प्रथम संस्करण

मूल्य दो [illegible] आना

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

सूची

प्रथम भारतीय चक्रवर्ती सम्राट्

ईसा से ३२१ वर्ष पूर्व भारत में मगध राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था। इस राज्य का राजा महापद्मनन्द था। कहा जाता है कि महापद्म निम्न वंश का वंशज था और चालाकी से सिंहासन पर बैठा था। सिंहासन का वास्तविक उत्तराधिकारी दूसरा ही व्यक्ति था, चन्द्रगुप्त। चन्द्रगुप्त के पिता प्रतापी मगध वंश के थे परन्तु माँ, मुरा, निम्न वंश की थी। इसीका बहाना बनाकर महापद्मनन्द ने उसे सिंहासन पर नहीं बैठने दिया था, और राज्य से बाहर निकाल दिया था।

युवक चन्द्रगुप्त के पास न कोई सहायक था न साधन, जिसकी सहायता से वह अपने राज्य को प्राप्त कर सकता। फिर भी वह सदैव प्रयत्नशील रहता था कि मगध का राज्य उसे प्राप्त हो सके। ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तब चन्द्रगुप्त सिकन्दर से जाकर मिला था, और उसने सिकन्दर को परामर्श दिया था कि वह मगध पर आक्रमण करे। नन्द के राज्य से प्रजा अप्रसन्न थी, और स्वयं नन्द डरपोक व्यक्ति था, इसलिए सिकन्दर की जीत एक प्रकार से निश्चित थी। परन्तु कुछ व्यावहारिक कारणों से सिकन्दर इस परामर्श के अनुकूल कार्यवाही नहीं कर सका।

बाद में, सिकन्दर की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् ही, चन्द्रगुप्त ने जो युद्ध-कला मे निपुण बन चुका था और साथ ही एक छोटी सेना का सेनापति भी, सिकन्दर के भारत-स्थित सरदारों की छावनियाँ लूटकर

उन पर कब्ज़ा कर लिया। सारा पंजाब जीत लेने के बाद वह मगध की ओर, जो उसकी जन्मभूमि थी, और जिसका वह असली उत्तराधिकारी था, बढ़ा।

चन्द्रगुप्त के आरम्भिक जीवन के विषय में कई मत हैं। यह जानना कठिन है कि उनमें सच्चाई किस सीमा तक है।

पुराणों के अनुसार ब्राह्मण कौटिल्य--चाणक्य--ने शूद्रवंशी नन्द राजाओं को गद्दी से हटाकर क्षत्रिय चन्द्रगुप्त को उस गद्दी पर आसीन किया। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में जोर देकर कहा है कि राज्य-भार क्षत्रियों को ही ग्रहण करना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय रहे होंगे, क्योंकि चाणक्य कभी शूद्र को शासक नहीं बना सकते थे।

परन्तु संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' के अनुसार चन्द्रगुप्त नन्दवंश के ही थे, अर्थात् शूद्र थे। नाटक मे उन्हे 'कुलहीन', निम्न वंश का, कहा गया है। परन्तु नाटक के कथन को पूर्ण सत्य नहीं स्वीकार किया जा सकता।

१८ वीं शताब्दि के प्रसिद्ध इतिहास लेखक धुन्ढीराज ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त निश्चित रूप से एक शूद्र स्त्री मूर की सन्तान थे, और उनके पिता का नाम सर्वरथसिद्ध था। सर्वरथ की दूसरी पत्नी सुनन्दा से नन्द का जन्म हुआ, जिससे नन्द-राज्यवंश आरम्भ हुआ।

काश्मीर के दो ग्रन्थो सोमदेवकृत 'कथासरित्सागर' और क्षेमेन्द्र कृत 'वृहत्कथा मंजरी' में चन्द्रगुप्त के जन्म की कथा दूसरी ही रीति से लिखी है। इन लेखकों के अनुसार चन्द्रगुप्त 'पूर्वनन्द' नामक राजा के पुत्र थे। यह 'पूर्वनन्द' दूसरे नन्द 'योगनन्द' से भिन्न था।

परन्तु इन सब मतों में सबसे अधिक प्रामाणिक मत बौद्धों का माना

जाना चाहिए। बौद्धो के अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म क्षत्रिय जाति के मयूरिया वश में, जो भगवान् बुद्ध के वंश 'शाक्यों' का एक उपवंश था, हुआ था। 'मयूरिया' शब्द, बौद्धों के अनुसार मयूर—मोर—से बना है। ऐसा कहा जाता है कि कौशल के निर्दयी राजा विदुघव से त्रस्त होकर इस उपवंश के लोग हिमालय के एक ऐसे भाग मे छिपने के लिए गए, जहाँ मोरो की अधिकता थी। इसीलिए इन लोगों का वंशनाम भी इस स्थान के आधार पर बाद में 'मौर्य' पड़ गया। एक दूसरी कथा के अनुसार यह लोग 'मयूर नगर' के वासी थे, जहाँ की ईंटें मोरो की गर्दनों जैसी होती थीं। इसलिए इनके वंश का नाम 'मौर्य' पड़ा।

जैनियो के एक ग्रन्थ 'परिशिष्टप्रवरण' में कहा गया है कि चन्द्रगुप्त का परिवार मोरो को पालता था। यूनानी लोगो के भारतीय इतिहास मे भी 'मोरी' वंश का उल्लेख आया है।

बौद्धों के एक अन्य ग्रन्थ मे चन्द्रगुप्त को स्पष्ट रूप से क्षत्रिय जाति का बताया गया है। 'दिव्यवदन' नामक ग्रन्थ के लेखक ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार और उसका पोता अशोक दोनों क्षत्रिय थे।

इसमे सन्देह नहीं कि 'मौर्य' शब्द का 'मयूर' से गहरा सम्बन्ध है। नन्दनगढ़ में स्थापित अशोक के एक स्तम्भ के मूल में मोर का चित्र अंकित है। साची के कई स्तूपों में भी मोर के चित्र हैं।

यूनानी इतिहास के लेखक जस्टिन ने चन्द्रगुप्त के विषय मे लिखा है कि उसका जन्म निम्न वंश में हुआ था। एक अन्य यूनानी इतिहास-लेखक ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर से कहा था कि मगध का राजा नन्द अपने बुरे व्यवहार तथा निम्न वंश का होने के कारण ही प्रजा मे लोकप्रिय नहीं है।

चन्द्रगुप्त का बाल्यकाल कितना संघर्षपूर्ण रहा था, यह बौद्धों के एक ग्रन्थ 'महावामस' से ज्ञात होता है। इस ग्रन्थ मे कहा गया है कि चन्द्रगुप्त का पिता, जो अपने वंश का प्रधान था, युद्ध मे मारा गया था। उसकी विधवा मा पुष्पपुर अथवा कुसुमपुर—पाटलिपुत्र—में आई, जहा उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। चन्द्रगुप्त का लालन-पालन एक चरवाहे ने किया, जिसने उसे बाद में अपने स्वामी, एक क्षत्रिय शिकारी को बेच दिया। एकबार बालक चन्द्रगुप्त गाव के बालकों के साथ राजा बनने का खेल—राज क्रीड़ा—खेल रहा था। वहा उसे राजाओं की भाति न्याय देते हुए देखकर चाणक्य ने उसे शिकारी से १००० मुद्रायें देकर खरीद लिया। फिर ७-८ वर्षों तक चाणक्य ने उसे तक्षशिला मे हर प्रकार की शिक्षा प्रदान की।

'महावस्त टीका' नामक एक दूसरे बौद्ध ग्रन्थ मे कहा गया है कि चन्द्रगुप्त को शिक्षित करने के पश्चात् चाणक्य ने एक छोटी सेना खडी की और चन्द्रगुप्त को उसका सेनापति नियुक्त किया। चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना मे 'पंचनद' प्रान्त (आजकल का पजाब) के साहसी क्षत्रिय सैनिक भी सम्मिलित किये। ये सैनिक अधिकाश 'वाहिका' वंश के थे और सिकन्दर के भारत आक्रमण के समय इन्होंने पंजाब मे कई स्थानो पर उसका डटकर सामना किया था। ये स्वतंत्र सैनिक थे और किसी राजा या सरदार के अधीन रहना पसन्द नहीं करते थे, परन्तु चन्द्रगुप्त ने उन्हें अपने अधीन कर लिया।

पंजाब के ये योद्धा लड़ने में बडे तेज़ तथा प्राण हथेली पर रखकर शत्रु का सामना करनेवाले योद्धा थे। परन्तु सिकन्दर इन्हें पराजित कर सका, इसका कारण यह था कि इनमें एकता नहीं थी। चन्द्रगुप्त ने उन्हें धीरे-धीरे एक करने का कार्य आरम्भ किया। इस कार्य की प्रेरणा उसे अपने गुरु चाणक्य से ही मिली थी और वह उसे

इस काम में अंत तक पूरी सहायता देते रहे।

अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये चन्द्रगुप्त ने अपनी सैन्य-शक्ति मजबूत करके हिमाञ्चल प्रदेश के एक राजा पर्वतक से मित्रता स्थापित की। एक अंग्रेज़ इतिहास-लेखक के अनुसार यह राजा पर्वतक वही राजा पोरु (पोरस) था, जिसने सिकन्दर का डटकर सामना किया था। पंजाब तथा हिमाञ्चल-प्रदेश मे उस समय वही सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था, और चाणक्य की तीक्ष्ण राजनीतिक दृष्टि ने यह समझ और देख लिया था कि स्वयं शक्तिशाली बनने के लिए इतने प्रभावशाली राजा का मित्र बनना ही बुद्धिमत्ता होगी।

और सचमुच, पर्वतक का मित्र बन जाने के पश्चात् चन्द्रगुप्त की सैन्य-शक्ति में क्रमशः वृद्धि ही होती चली गई। छोटी-छोटी विभिन्न सैनिक-टुकड़िया आकर चन्द्रगुप्त की सेना में सम्मिलित होगईं।

भाग्य भी चन्द्रगुप्त के साथ था। देश की आन्तरिक स्थिति तथा कुछ अन्य परिस्थितिया उस समय ऐसी थीं कि महाशक्तिशाली होने के बावजूद भी सिकन्दर को आगे बढ़ने में बडी कठिनाई अनुभव हो रही थी। विद्रोह और अशाति की ज्वाला स्वयं उसके सैनिकों में प्रज्ज्वलित होनेके अतिरिक्त भारतके विभिन्न राज्यो मे भी बड़ी तेज़ीसे फैलती जा रही थी। भारत के अतिरिक्त अन्य उन देशो ने भी जिन्हे जीतकर सिकन्दर भारत आया था, सिकन्दर के विरुद्ध सिर ऊँचा खडा कर दिया था। परिस्थितियों को विषम और प्रतिकूल देखकर सिकन्दर ने यूनान वापस लौटने का निश्चय किया।

लौटने से पहले उसने विजित भारत को छः भागोंमें विभाजित कर दिया, जिनमें से तीन सिन्धु के पूर्व की ओर स्थित थे और तीन पश्चिम की ओर। पूर्व वाले सब भाग उसके द्वारा नियुक्त भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा शासित थे।

३२३ बी० सी० में सिकन्दर की मृत्यु होगयी। उसकी मृत्यु के पहले भारत मे भी कई यूनानी सरदारों की हत्यायें हो चुकी थी, और भारत ने यूनानियों के बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। ठीक इसी समय सिकन्दर ने विद्रोहियों के नेता के रुप भारत के राजनीतिक रंगमंच पर प्रवेश किया।

यूनानी इतिहास के लेखक जस्टिन ने लिखा है—"सिकन्दरकी मृत्यु के पश्चात् भारत के राजाओं को लगा, जैसे उनके कन्धों पर से एक भारी बोझ हट गया है। धीरे-धीरे उन्होंने चन्द्रगुप्त के नेतृत्व मे स्वतंत्र होने के प्रयत्न आरम्भ किये।"

पंजाब को यूनानियों के शासन से मुक्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त का ध्यान मगध की ओर आकृष्ट हुआ, जहा नन्द राज्य कर रहा था। मगध पर उसके आक्रमण का पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है, पर जो विवरण प्राप्त है, उससे ज्ञात होता है कि वह एक सुयोजित आक्रमण था। परन्तु चन्द्रगुप्त ने भूल यह की कि उसने पाटलिपुत्र तथा मगध पर आक्रमण करने से पंजाब तथा मगध के बीच के राज्यों को अपने अधीन नहीं किया, और इसका फल यह हुआ कि उसकी सेना इन राज्यो की सेनाओं से घिर गई। जिन कुछ राज्यो को उसने जीता भी, उनमें उसने अपने प्रतिनिधि और सैनिक नहीं छोडे। बाद में उसने इन दोनो भूलों को ठीक कर लिया, और अंत में धननन्द को मारकर स्वयं मगध और पाटलिपुत्र का राजा बना।

नन्द के साम्राज्य का स्वामी बनने के लिये चन्द्रगुप्त को कई बार लडना पड़ा, क्योंकि नन्द के पास २ लाख से अधिक पदाति सैनिक, २०,००० घुडसवार, २००० रथ और रथवान, और ३००० हाथी थे। नन्द को दूसरा परशुराम कहा जाता था, क्योंकि उसने सब क्षत्रियो का अंत करके अपना साम्राज्य पंजाब तक बढ़ा लिया था।

उसके पास अपार धन और सेना थी। लेकिन क्रूर होने के कारण वह लोकप्रिय नहीं था।

नन्द को परास्त करने पर चन्द्रगुप्त इतने विशाल-साम्राज्य का स्वामी तो बन ही बैठा, साथ ही इस विजय से उसके गुरु चाणक्य की भी जिसका नन्द ने एक बार घोर अपमान किया था, नन्द से बदला लेने की इच्छा पूर्ण हुई।

मगध की जीत के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने यूनानी सरदार सैल्यूकस को भी हराया और भारत के उन दक्षिणी-भागों को भी अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया जो नन्द नहीं जीत सका था। सैल्यूकस चन्द्रगुप्त को हराकर सिकन्दर की भाँति भारत का सम्राट् बनना चाहता था, पर उसे हारकर चन्द्रगुप्त से सधि करनी पड़ी। सैल्यूकस की हार के पश्चात् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार ईरान की सीमा तक होगया, क्योंकि काबुल, हेरात, कन्धार, बलूचिस्तान और अफ़गानिस्तान के राज्य सैल्यूकस के अधिकार में थे।

दक्षिण में चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमायें आधुनिक मैसूर के शिकारपुर ताल्लुका तक थीं। दक्षिणी-भारत मे चन्द्रगुप्त ने कोंकण प्रदेश द्वारा प्रवेश किया था।

२००० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त साम्राज्य से विस्तृत साम्राज्य पर राज्य करने का सौभाग्य न मुगलों को मिल सका, और न अंग्रेजों को ही, और इतने बड़े राज्य का विस्तार चन्द्रगुप्त ने केवल १८ वर्ष में ही किया। उसकी इस असाधारण विजय के कारण उसकी गणना भारत ही नहीं, संसार के इने-गिने प्रतापी राजाओं में होती है।

इतने बड़े राज्य का संचालन चन्द्रगुप्त कैसे करता था, इसका कुछ आभास उस वर्णन से हो सकेगा जो मैगस्थनीज़ नामक यूनानी राजदूत ने अपनी पुस्तक मे लिखा है। मैगस्थनीज कई वर्षों तक

पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) मे रहा था, और उसने चन्द्रगुप्त के राज्य तथा उसकी व्यवस्था का आँखों-देखा वर्णन अपनी पुस्तक में किया है।

चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र नगर वर्गाकार रूप मे स्थित था। उसकी लम्बाई नौ मील और चौड़ाई डेढ़ मील थी। नगर के चारों ओर लकड़ी की मज़बूत दीवार थी, जिसके चौंसठ द्वार थे। इस दीवार के परे एक गहरी खाई शत्रुओं से नगर की रक्षा करती थी।

सम्राट् का महल अधिकाश लकडी का बना था, लेकिन उसके खम्भों पर सोने और चादी के पत्तियों को बडी सुन्दरता से अंकित किया गया था। महल के चारो ओर एक भारी बाग था।

राजदरबार महल मे ही होता था। दरबार के समय ६-६ फ़ीट परिधि वाले स्वर्ण-कलशों से लेकर छोटे-छोटे बर्तन और आभूषण भी सोने के रहते थे। जब सम्राट् को बाहर जाना होता था, तब वे स्वर्ण-पालकी मे जाते थे। इस पालकी पर जो बारीक पर्दा पड़ा होता था उस पर बारीक सुनहरी तार बिने रहते थे। स्वर्ण-पालकी रत्नजटित भी रहती थी। राजधानी से बाहर जाते समय सम्राट् निकट स्थान के लिये घोड़े का और लम्बी यात्रा के लिये हाथी का प्रयोग करते थे।

सम्राट् का प्रिय आमोद था बैलो, हाथियों या गैंडों का द्वन्द्व-युद्ध देखना। आजकल की घुडदौड़ की भाँति बैलों की दौड़ भी होती थी और लोग उनपर बाजी भी लगाते थे। सम्राट् भी इन दौड़ो को देखने के लिये आते थे। सम्राट् को आखेट का भी बड़ा शौक था और आखेट के समय उनके साथ सैकडो सशस्त्र परिचारिकायें चलती थीं। आखेट के समय सम्राट् हाथी पर सवार रहते थे, और जिस सड़क से वह और उनका दल जाता था, उसके दोनों ओर रस्से बँधे होते थे। उस पर किसी के आने के अर्थ था, उसका जीवन से हाथ धो बैठना।

सम्राट् अपना अधिकाश समय राजमहल में ही व्यतीत करते थे। और बाहर केवल फ़रियाद सुनने, पूजा या यज्ञादि में भाग लेने या आखेटादि पर जाने के लिये आते थे। परन्तु दिन में वह एकबार दरबार में अवश्य बैठकर प्रजा को दर्शन देते थे और उनकी प्रार्थनायें सुनते थे।

इन बाह्य-सुखो के बीच भी सम्राट् को पूरी आतरिक शाति प्राप्त नहीं थी। उन्हें हर व्यक्ति पर सन्देह रहता था। शत्रुओं के भय से वह न कभी दिन में सोते थे और न उस भोजन को ग्रहण करते थे जो पहले किसी अन्य व्यक्ति द्वारा चख न लिया गया हो।

चन्द्रगुप्त की विशाल सेना का ख़र्च भी बडा था। उसकी सेना की संख्या के आकड़े पीछे दिये ही जा चुके है। प्रत्येक घुड़सवार के पास दो भाले रहते थे और हर सैनिक के पास तलवार और तीर-कमान। चन्द्रगुप्त के सैनिक कमान को पृथ्वी पर रखकर इतने जोर के साथ तीर चलाते थे कि वह कवचों को भी भेदता हुआ शरीर के अन्दर चला जाता था। प्रत्येक महारथी के रथ मे दो या चार घोडे जुते रहते थे और उस पर सारथी के अतिरिक्त दो सशस्त्र-सैनिक रहते थे। हाथी पर महावत के अतिरिक्त तीन निशानची रहते थे। इस प्रकार ९००० हाथियो के साथ ३६००० सशस्त्र सैनिक और ८००० रथो के साथ २४००० सशस्त्र सैनिक हो जाते थे। कुल मिलाकर सैनिकों की संख्या ६९०,००० के लगभग थी। इस सख्या मे सेना के साथ चलने वाले कार्यकर्त्ताओं का समावेश नहीं किया गया है। इतनी बड़ी सेना रखने का सौभाग्य मुगलों को भी नहीं मिला।

इस सेना का संचालन एक युद्ध-विभाग करता था, जिसके तीस सदस्य थे और छः उप-विभाग। पहला उप-विभाग नौ-सेना का संचालन करता था और दूसरा उप-विभाग सेना के यातायात की

देखभाल करता था। तीसरे, चौथे, पाँचवे और छठे उप-विभागों के काम क्रमशः पैदल सेना, घुड़सवार सेना, रथों और हाथियों का प्रबन्ध था। सब सभ्य देशों में सेना का संचालन, आजकल इसी रीति से होता है।

सेना के प्रबन्ध के समान चन्द्रगुप्त का राज्य-प्रबन्ध भी ऊँचे दर्जे का था। पाटलिपुत्र का प्रबन्ध एक कार्यकारिणी सभा के अधीन था। यह सभा आजकल के म्यूनिसिपलबोर्डों और कारपोरेशनों के समान थी और इसके सदस्यों की संख्या तीस थी। इस सभा के अंतर्गत छः विभाग थे। पहला विभाग राज्य के कर्मचारियों तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं की निगरानी और उनके वेतनादि के प्रश्नों की देखभाल के लिये था। दूसरा विभाग विदेशियों की देखभाल के लिये था। यह विभाग विदेशियों के रहने, घूमने आदि की उत्तम व्यवस्था करता था और उनकी मृत्यु हो जाने पर उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया की भी समुचित व्यवस्था करता था। प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के समय में विदेशी यात्री बड़ी संख्या में भारत का पर्यटन करने आते थे, तभी चन्द्रगुप्त को इस विभाग के रखने की आवश्यकता पड़ी।

तीसरा विभाग आजकल की म्यूनिसिपैलटियों के समान राजधानी में प्रतिदिन हुई प्रत्येक मृत्यु और जन्म का हिसाब रखता था। इन आंकड़ों की सहायता से कर वसूली में बड़ी सुविधा होती थी। प्रजा की जन्म और मृत्यु का हिसाब रखने की व्यवस्था पाश्चात्य देशों ने भी, काफ़ी समय बाद अपनाई। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का राज्य-प्रबन्ध कितना प्रगतिशील था।

चौथे विभाग का काम राजधानी के व्यापार और व्यापारियों पर नियन्त्रण रखने का था। यह विभाग बाहर से आये माल पर चुङ्गी भी वसूल करता था। प्रत्येक व्यापारी को प्रत्येक व्यापार के लिये कर

देकर लायसेंस प्राप्त करना पड़ता था, और व्यापार मे बेईमानी करने वालों को कड़ी सज़ा दी जाती थी।

पाचवाँ विभाग राजधानी मे निर्मित वस्तुओं की देखरेख के लिये था। छटे विभाग का कार्य प्रत्येक बिकी वस्तु पर 'क्रय कर' (आजकल के सेल्स-टैक्स के समान) वसूल करने का था। हमारे देश मे वर्तमान सेल्स-टैक्स का प्रारम्भ श्री राजगोपालाचारी ने १६३७ के प्रातीय काग्रेसी मंत्रिमण्डलो के समय में की थी। हो सकता है कि उन्हें यह विचार चन्द्रगुप्त की शासन-प्रणाली के अध्ययन से आया हो। परन्तु एक बात पर आश्चर्य होता है। चन्द्रगुप्त के समय मे इस क्रय-कर को न देने वालों की सज़ा मौत थी। कहा नहीं जा सकता कि इस अपराध के लिये इतनी कड़ी सजा क्यों रखी गई?

तक्षशिला, उज्जैन तथा अन्य बड़े नगरों का प्रबंध भी उपरोक्त रीति से होता था। अपने-अपने विभागो के कार्यों को देखने के अतिरिक्त कार्य-कारिणी सभा नगर के मंदिरो, मकानो और बाजारोंकी सफाई आदि की व्यवस्था भी करती थी।

सारा देश कई प्रातों मे विभाजित था और उनके शासक गवर्नर होते थे। यह गवर्नर राजवंश के रहते थे। चन्द्रगुप्त का साला काटियावाड का गवर्नर था।

यद्यपि उन दिनों आजकल की भाँति पत्रों का प्रकाशन नहीं होता था, फिर भी राज्य की ओर से प्रत्येक नगर मे 'सम्वाददाता' नियुक्त थे, जिनका कार्य राजदरबार को स्थानीय महत्त्वपूर्ण समाचार नियमितरूप से भेजते रहने का था। इन सम्वाददाताओं द्वारा भेजे गये सम्वाद गुप्त होते थे, परंतु विदेशी लेखकों का कहना है कि सम्वाद बिल्कुल सच्चे भेजे जाते थे। उनमे अतिशयोक्तियाँ या पक्षपात कतई नहीं रहता था।

सत्य बोलने का यह स्वभाव सम्वाददाताओं मे ही नहीं, सामान्य प्रजा मे भी था। अपराधों की सख्या बहुत कम थी। मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि ४००,००० की आबादी वाले चन्द्रगुप्त के एक सैन्य-शिविर में दिन-भर मे केवल १०० रुपए की चोरी हुई। अपराध सिद्ध हो जाने पर अपराधी को अंगभंग की या मौत की सज़ा दी जाती थी। न्याय बहुत निर्मम था, परन्तु उसकी शरण में जाने की आवश्यकता भी लोगों को यदा-कदा ही पड़ती थी।

किसानों से उनकी पैदावार का एक-चौथाई भाग लगान के रूप मे वसूल किया जाता था। किसानों को अनेकानेक सुविधाएं प्राप्त थीं और युद्ध के अवसरों पर सैनिकों-द्वारा भूमि की विशेष रक्षा की जाती थी। सेना मे किसान लोगों को भरती इसलिए नहीं किया जाता था कि उनका कार्य भी सैनिकों के समान महत्त्वपूर्ण समझा जाता था।

खेतों की सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। प्रत्येक किसान को उसकी आवश्यकतानुसार ही पानी दिया जाता था, और दिये गए पानी पर साधारण-सा कर भी वसूल किया जाता था। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त के समय मे नहरें भी थीं। नहरों के होने का एक ऐतिहासिक प्रमाण और भी मिलता है।

चन्द्रगुप्त के साले पुष्यगुप्त ने जो काठियावाड का गवर्नर था, गिरनार नामक स्थान मे, जो अरब समुद्र के निकट ही एक पहाड़ी पर स्थित है, 'सुदर्शन' नामक झील खुदवाई थी जिसकी सहायता से वहाँ के किसानो को पानी प्राप्त होता था। इन नहरों का पूरा निर्माण अशोक के समय तक हुआ। और यह चार सौ वर्ष तक कायम रही।

यद्यपि ब्राह्मणों का राजा और प्रजा द्वारा विशेष मान किया जाता था, फिर भी शासन के मामले मे उनके साथ कोई रियायत नहीं की

जाती थी। अपराधी सिद्ध होने पर उन्हे भी साधारण नागरिक की भाँति दंड भुगतना पडता था। अस्त्र-शस्त्रो के बनाने वाले, रथों और जहाज़ों के निर्माण करने वाले, सरकारी कर्मचारी माने जाते थे और उन्हें राज्य द्वारा वेतन मिलता था। उन्हें साधारण नागरिकों के लिये अस्त्र बनाने या उनका अन्य कार्य करने की सख्त मनाही रहती थी। इसी प्रकार लुहार, बढ़ई तथा अन्य श्रमिको पर राज्य का विशेष अनुशासन था।

सड़कों के बनाने और उनकी निगरानी के लिये राज्य की ओर से विशेष अधिकारी नियुक्त थे। प्रत्येक आधे कोस पर एक शिला थी, जिस पर अन्तर लिखे रहते थे। एक राजमार्ग भी बनाया गया था, जो पाटलिपुत्र से पेशावर तक गया था।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के समय मे भारत की सभ्यता उन्नतावस्था में थी। कला, सैन्यबल, शासन-प्रबंध, धर्म, सदाचार सभी बातों में भारत उन दिनों संसार के किसी भी देश से बढ़ा-च ा था। यद्यपि शिलाओं पर लेखन की प्रथा चन्द्रगुप्त के पोते अशोक ने ही आरम्भ की, फिर भी चन्द्रगुप्त के समय मे ताड़ के पत्तों तथा कपडो पर लिखने की प्रथा प्रचलित थी। शिक्षा अनिवार्य थी।

चन्द्रगुप्त ने अपने बडे साम्राज्य को कई प्रान्तो में विभाजित कर दिया। प्रत्येक प्रान्त का एक शासक (अधिपति या राष्ट्रीय) था जो राजा का प्रतिनिधि था, और जिसका ओहदा आज के राज्यपाल के बराबर होता था तक्षशिला, उज्जैन, कौशाम्बी, गिरनार, तोसली और स्वर्णगिरी नगर इन प्रान्तों की राजधानियाँ थीं।

प्रान्त के गाँवों को 'ग्रामाणी' कहा जाता था। १०, २०, १००, और १०००, गाँवो के समूहों के अधिकारियो को क्रमश. दशी, विंसती

शतसा और सहसा कहा जाता था। इन अधिकारियों के मुख्य कार्य लगान वसूल करना तथा अपराधियों को दण्ड देना था। सारा लगान अन्त में जाकर राजा को मिलता था। जो ग्राम आबादी तथा उत्पादन में बढ़ जाता था, वह नगर (पुर या पट्टन) बन जाता था। प्रत्येक १० ग्रामो को एक 'पैठ'—समग्रहण—की सुविधा उपलब्ध थी, ताकि उनके निवासी वहाँ से अपने दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ खरीद सकें। २०० या ४०० गाँवों के ऊपर एक बडा कस्बा, जो प्रायः किसी नदी के मुख पर स्थित होता था, रहता था, जिसे 'द्रोणमुख' कहते थे। नगरों, पुरों या पट्टनो का संचालन सीधे राजधानी से होता था।

प्रत्येक ग्राम या नगर की शासन-व्यवस्था आज के प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के अनुसार होती थी। ग्रामो का शासन वहाँ के प्रमुख कुल जाति, श्रेणी या जनपद करती थी। राजा का कार्य यह देखते रहना था कि इन संस्थाओं अथवा लोक-सभाओं द्वारा पास हुए कानून लागू हो जाये और लोग उनका पालन करते रहें।

मैगस्थनीज के अनुसार उस समय के भारतीयो को धन्दों की दृष्टिसे सात श्रेणियोंमे विभाजित किया जा सकता था: (१) दार्शनिक—ये ब्राह्मण होते थे, जो राजा तथा प्रजा दोनों के कल्याणार्थ पूजा-पाठ आदि सम्पन्न कराते थे। (२) कृषक—अधिकांश प्रजाजन कृषक ही थे इनका काम केवल खेती करना था। ये लोग युद्ध करने से मुक्त थे, और कई बार ऐसा भी देखा गया था कि खेत के आस-पास लडाई रहने पर भी ये लोग कृषि मे ही व्यस्त रहते थे। (३) शिकारी। (४) व्यापारी नाविक और कल-पुर्जों का काम करने वाले। नाविक-गण मुख्यतया राज्य का ही कार्य करते थे, पर प्रार्थना की जाने पर व्यापारियों का माल भी ढो देते थे। (५) सैनिक—इन्हें शान्तिकाल

मे भी वेतन मिलता था। (६) गुप्त सम्वाददाता—इनका कार्य प्रत्येक घटना का सम्वाद राजा तक पहुँचाना था। (७) अधिकारीगण-इनमें सेनाधिकारी, कोषाध्यक्ष, कृषि-अधिकारी, अधिपति, उपाधिपति, न्यायाधीश आदि सम्मिलित थे।

मैगस्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त के समय की शिक्षा-प्रणाली का वर्णन भी किया है। शिक्षक या तो ब्राह्मण होते थे अथवा श्रमण। शिष्य, नगरों के बाहर-स्थित आश्रमो मे अपने गुरुओं के साथ २५ वर्ष ब्रह्मचर्य में व्यतीत करते थे। श्रमण अधिकाश संन्यासी होते थे, जो जंगल के फल-मूलों पर जीवन-यापन करते थे। इनमे से कुछ चिकित्सक भी होते थे, जो स्वयं चिकित्सा करने के अतिरिक्त दूसरो को भी चिकित्सा करना सिखाते थे। 'प्रामाणिक' नाम के गुरु भी होते थे, जो अपने शिष्यो को केवल तर्क-शास्त्र की शिक्षा देते थे, तथा स्वयं भी प्रत्येक वस्तु और सिद्धान्त को केवल विवेचन से ही जानने का प्रयत्न करते थे। ये लोग ब्राह्मणो की शिक्षा-प्रणाली तथा उनके सिद्धान्तों के विरोधी थे।

नववर्पोत्सव पर ये सब दार्शनिक राजधानी मे एकत्रित होते थे, तथा राजा उनसे राज्य की दशा तथा शासन व्यवस्था को सुधारने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करते थे।

चन्द्रगुप्त अपनी नवयुवावस्था मे ही गद्दी पर बैठ गये थे, और चूंकि इतिहास-लेखकोंके अनुसार उन्होने चौबीसवर्ष तक राज्य किया, इसलिये उनकी मृत्यु ४५ और ५० वर्ष के बीच हुई होगी, ऐसा अनुमान किया जासकता है। इन चौबीस वर्षोंमें चन्द्रगुप्तने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। भारत से यूनानी राज्य का अन्त करना, अरब-समुद्र से लेकर बंगाल की खाडी तक के भूमि-प्रदेश पर अपना अधिकार, एक विशाल सेना और साम्राज्य का जन्म, यह ऐसे महत्वपूर्ण कार्य है

जिनके कारण चन्द्रगुप्त का नाम इतिहास में सदैव के लिये अमर रहेगा।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की धाक इतनी थी कि उसकी मृत्यु के सदियों बाद तक, देशी या विदेशी किसी भी राजा का यह साहस नहीं हो सका कि वह साम्राज्य के विरुद्ध उठने की कल्पना भी कर सके। शक्तिशाली यूनानियों तक ने, सैल्यूकस की हार के बाद, भारत पर आक्रमण करने के इरादे बदल दिये और भारत से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित रखने में ही अपना भला समझा।

कुछ इतिहास-लेखकों का कहना है कि चन्द्रगुप्त को इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी बनने का अवसर सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के कारण ही मिला। पर यह अनुमान ग़लत है। सिकन्दर ने १६ महीने का जो समय भारत में बिताया, वह लड़ाइयों में ही बिताया, उसे किसी स्थायी-राज्य को बनाने का समय ही नहीं मिला, और उसकी मृत्यु के बाद तो चन्द्रगुप्त ने एकदम उसके सब किए पर पानी फेर दिया था। साम्राज्य किस प्रकार स्थापित किया जाय यह जानने के लिये चन्द्रगुप्त को सिकन्दर के उदाहरण की आवश्यकता न थी। उसके मार्ग-दर्शक उसके गुरु चाणक्य थे, जो आज भी राजनीति के विषय में अपने कई अनुपम ग्रन्थों के लिये विख्यात हैं। चन्द्रगुप्त की राजनीति, युद्धनीति, शासननीति सभी चाणक्य की शिक्षाओं पर आधारित थीं, और इसलिये विशुद्ध भारतीय थीं। उनमें विदेशीपन की कोई गंध नहीं। कुछ लोगों का यह कथन भी ग़लत है कि उसने युद्ध करना सिकन्दर से सीखा। सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त के समान अपनी सेना में रथों और हाथियों का कभी प्रयोग नहीं किया। चन्द्रगुप्त की राज्यप्रणाली और युद्धनीति दोनों ही भारतीय रंग में ही रंगी थीं।

अशोक : २

"संसार के इतिहास मे हजारों विजेताओ और सम्राटों के नामो के बीच अशोक का नाम अलग एक सितारे की तरह चमकता है। वह पहला सम्राट् था जिसने अपनी प्रजा को जीवन का उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के साधनो के विषय मे शिक्षा दी। वह पहला विजेता राजा था जिसने जीत के बाद भी युद्ध को हानिकारक समझकर सदैव के लिये उससे मुँह मोड लिया था। २८ वर्ष तक उसने बुद्धिमत्तापूर्वक और ईमानदारी के साथ अपनी प्रजा की वास्तविक सेवा के लिये प्रयत्न किया।"

यह हैं संसार-प्रसिद्ध लेखक एच० डी० वैल्ज के अशोक के प्रति उद्गार जो उन्होंने अपनी 'पृथ्वी का इतिहास' नामक पुस्तक में प्रकट किये हैं।

भारत की अविचलित सांस्कृतिक इकाई पिछले कई हजार वर्षों से जीवित चली आ रही है। बीच मे यद्यपि वह क्षीण और आवृत्त भी होगई, परन्तु अपनी जीवनी-शक्ति उसने कभी नहीं त्यागी। सिकन्दर के भारत में आने के समय भारतीय संस्कृति के संकोच और ह्रास का काल भी आया, नई संस्कृति और नये लोगो के प्रवेश के कारण और विभिन्न संघर्षों के कारण भारतीय संस्कृति मे अनेकानेक परिवर्तन भी हुए, मगर उसकी अन्तरात्मा ज्यो-की-त्यों रही। उस समय सम्राट् अशोक ने हमारी संस्कृति को उसके संकीर्ण क्षेत्र से निकालकर एक जीवित प्रभात के रूप मे विश्व के सामने रखा। भारतीय संस्कृति

के मौलिक गुणों को अपने व्यक्तित्व में ग्रहण करके उन्होंने सम्राट् होते हुए भी ऐसा जीवन व्यतीत किया, जिसे प्रत्येक सुशिक्षित भारतीय अपने जीवन की सरणि के रूप मे देखता है। उन्होंने हमारी संस्कृति को विकास के ऐसे नये रूप प्रदान किये जो प्रसारात्मक और रचनात्मक दोनों थे।

विश्व-इतिहास के पाठक अशोक को एक ऐसे सम्राट् के रूप मे जानते है जिसने अपने राज्य का संचालन विशुद्ध अहिंसात्मक प्रणाली से किया। आज की दुनिया में किसी भी राज्य का संचालन विना फ़ौज की सहायता के असम्भव-प्राय: है। २२०० वर्ष पूर्व भी यह असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य रहा होगा, क्योंकि अशोक के काल मे भी भारत छोटी-छोटी रियासतो और प्रदेशों मे बॅटा हुआ था, जिनके शासकों को पराजित करके, अशोक के दादा चन्द्रगुप्त ने विशाल भारतीय-साम्राज्य की स्थापना की थी। ये शासक तलवार के जोर को ही मानते थे, किन्तु यह अशोक की अहिंसा की अपूर्व विजय थी कि उसमें युद्ध के प्रति घृणा रहने पर भी, किसी भी शासक, ने उसके विरुद्ध विद्रोह का झंडा नहीं उठाया।

अशोक का लालन-पालन जिस कुल और वातावरण में हुआ, उसे देखते हुए वाद में उसके अहिंसक बन जाने की बात एक चमत्कार-सा लगती है। उसके दादा चन्द्रगुप्त ने वह कर दिखाया था जो यूनान का विजेता राजा सिकन्दर हिन्दुस्तान में आकर करना चाहता था। सिकन्दर चाहता था कि वह सारे भारत को जीतकर उसका एकछत्र-सम्राट् बन जाये, परन्तु उसका यह स्वप्न पूरा नहीं हो सका। चन्द्रगुप्त ने अपने कौशल और वीरता से धीरे-धीरे देश के सब छोटे-बड़े राजाओं को परास्त करके सारे भारत को एक साम्राज्य का रूप दे दिया। चन्द्रगुप्त की सेना ब्रिटिश-सेना से भी अधिक

शक्तिशाली और बड़ी थी। उसके साम्राज्य का विस्तार मुगल-साम्राज्य के विस्तार से कहीं अधिक था, और प्रायः इतना था जितना ब्रिटिश-भारत का था।

चन्द्रगुप्त एक वीर-योद्धा ही नहीं था, वह एक कुशल-शासक भी था। उसने प्रजा को हर प्रकार से सुखी रखा। कुछ समय पूर्व पाटलि-पुत्र के आस-पास खोज करके इतिहासज्ञो ने चन्द्रगुप्त के समय की तीन इमारतों और वस्तुओं का पता लगाया है। उन्हें देखकर यूनानी राजदूत मैगस्थनीज़ द्वारा दिये गये पाटलिपुत्र के वैभव और सौन्दर्य के वर्णन को अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता। चन्द्रगुप्त के समय मे, वास्तव में भारतीय-संस्कृति अपने विकास की चरम सीमा पर थी।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पच्चीस वर्ष बाद अशोक को चन्द्रगुप्त की गद्दी पर बैठना पड़ा। इन पच्चीस वर्षों में भारत का सम्राट् अशोक का पिता बिन्दुसार था। बिन्दुसार के विषय में इतिहास द्वारा अधिक पता नहीं चलता, मगर चूँकि अशोक को चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित साम्राज्य ज्यों-का-त्यों मिला, इसलिए यह समझ लेना ठीक है कि बिन्दुसार भी चन्द्रगुप्त की ही भाति कुशल-शासक था।

अशोक को इतने बड़े राजा का पुत्र होने के नाते ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करने और हर प्रकार के सुख-साधनों के उपभोग करने के अवसर मिले। आरम्भ से ही अशोक को यह चेतना थी कि आगे चलकर नियति उससे बड़े कार्य कराने वाली है।

अशोक जैसे राजकुमार को ऐसे मित्र और सलाहकार भी मिले, जो सदैव उसकी प्रशंसा करते रहकर अपनी स्वार्थसिद्धि करने की योजनायें बनाया करते थे। यदि अशोक ऐसे मित्रो और सलाहकारो के चंगुल में आ जाता, तो आगे चलकर वह अन्य राजाओं की भाति स्वार्थी और कठोर राजा ही होता। किन्तु अशोक ने कभी ऐसे मित्रो

का सहवास नहीं रखा, और हमेशा अपने को संवेदनशील और दयालु रखा।

अशोक के मन की गुप्त आकांक्षायें क्या थीं, इसका कुछ आभास यह जानकर किया जा सकता है कि जब राजकुमार होने के नाते उन्हें किसी उपाधि के देने का प्रश्न आया तो उन्होंने 'देवानाम् प्रियः' (देवताओं का प्रिय) और 'पियदासी' यह दो उपाधियाँ अपने लिये चुनीं। युवावस्था मे भी, जब कुसंगति और अविवेक के कारण ऐश्वर्य में पले नवयुवकों का नैतिक-पतन प्रायः हो जाता है, अशोक ने अपने को सब कुप्रभावों से अक्षुण्ण रखा और हृदय की नैसर्गिक पवित्रता और उदारता को कभी न छोड़ा।

अपने पिता के शासन-काल मे अशोक को उनके साम्राज्य के कई प्रान्तों का अधिपति बनने का अवसर प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम वह सीमान्त-प्रदेश के अधिपति बने। यह काश्मीर, पंजाब और सिन्ध के पश्चिम वाला प्रदेश था। उस समय तक्षशिला इस प्रदेश की एक राजधानी भी थी और हिन्दू-संस्कृति का प्रधानकेन्द्र भी। उसके बाद अशोक पश्चिमी प्रदेश के अधिपति बने। इस प्रदेश की राजधानी उज्जैन थी, जो भारत का सबसे पुराना नगर तथा शिक्षा का महान् केन्द्र माना जाता था। शिक्षा तथा संस्कृति के इन दो महान् केन्द्रो में युवावस्था के कई वर्ष व्यतीत करने का लाभ यह हुआ कि अशोक ने हिन्दू-धर्म और संस्कृति के सब सिद्धान्तों को सविस्तार समझा।

अशोक जब उज्जैन में थे, तब उन्हें अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला। उन्हें तुरन्त सम्राट् घोषित कर दिया गया। उज्जैन से पाटलिपुत्र तक एक शानदार जुलूस में अशोक को लाया गया, और पिता की मृत्यु के तीन वर्ष बाद वे राजसिंहासन पर बैठे।

अशोक के राज्यकाल के आरम्भिक वर्षों का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है, परन्तु चूँकि इस अवधि मे चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित साम्राज्य के विस्तार में कमी आने के कोई समाचार नहीं मिलते, इसलिये यह मान लिया जा सकता है कि अशोक ने साम्राज्य की प्रतिष्ठा के सूर्य को ग्रहण नहीं लगने दिया।

१६, २० की आयु में अशोक को गद्दी पर बैठने का अवसर मिला। गद्दी पर बैठने के ग्यारह वर्ष बाद तक उन्होंने अपने पिता और दादा की ही भाति राज्य किया और साम्राज्य को उसी प्रकार जमाये रखा। इसके बाद अशोक के जीवन में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना घटी, जिसने उनके समस्त जीवन को एक नये रंग मे रंग दिया।

यह घटना कलिंग का युद्ध थी।

कलिंग अशोक के साम्राज्य के दक्षिण की ओर स्थित एक प्रान्त था। आजकल यह प्रदेश विजगापट्टम और गंजम के ज़िलों की भूमि है। अशोक की इच्छा थी कि इस प्रान्त को जीतकर उसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया जाए।

कलिंग जीत तो लिया गया, परन्तु उसके कारण जो रक्तपात हुआ और बर्बादी हुई, उसने अशोक के भावुक हृदय मे एक अद्‌भुत क्रान्ति पैदा कर दी। अशोक को अपना हृदय मंथन करने के लिए विवश होना पडा। इस विजय के बाद उनके मन में जो अन्तर्द्वन्द्व हुआ होगा, उसका आभास, उनके द्वारा निर्मित एक शिलालेख की इन पंक्तियों से होता है :—

"सिंहासनारूढ़ होने के ग्यारह वर्ष बाद महामान्य सम्राट् अशोक ने कलिंग प्रदेश पर विजय प्राप्त की। इस युद्ध मे डेढ़-लाख व्यक्ति कैदी बने, एक लाख मारे गये, और कई लाख बेघर तथा तबाह होगए।

"कलिंग की विजय के बाद सम्राट् के मन में कलिंग की

प्रजा के साथ धर्मयुक्त व्यवहार करने के विचार जाग्रत हुए। इन विचारों के साथ-ही-साथ सम्राट् के मन मे दूसरे विचार भी आए और उन्हे लगा कि कलिंग की जीत की जो कीमत दी गई है—लाखों निरपराध प्राणियों का बलिदान—वह बहुत ही अधिक थी। कलिंग की विजय के लिए सम्राट् को प्रसन्नता न होकर खेद और पश्चात्ताप है।

"सम्राट् के अनुसार धर्म की विजय ही सच्ची विजय है। इसी विजय से सुख की प्राप्ति होती है, यह सुख पृथ्वी के अन्य सुखों की भाँति अस्थायी नहीं है, यह व्यक्ति के साथ परलोक में भी रहता है।

"सम्राट् ने यह लेख इस आशय से विज्ञापित कराया है कि उनके बेटे और पोते इस बात की सच्चाई को जानें कि दूसरे राज्यों पर आक्रमण करना किसी राजा के लिए उचित नहीं। यदि उन्हें अपनी रक्षा के हेतु युद्ध मे भाग लेना पड ही जाए तो उन्हें अपने शत्रुओ के प्रति धैर्य और सज्जनता से काम लेना चाहिए, क्योंकि सच्ची जीत धर्म की ही होती है। धार्मिक विजय ही स्थायी विजय है, और उस ही के प्रयत्न में व्यक्ति को सच्चा सुख प्राप्त होता है।"

यह समझना भूल होगी कि कलिंग की विजय ने अशोक के जीवन में एक आकस्मिक परिवर्तन ला दिया। इस परिवर्तन को आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। इस परिवर्तन की अज्ञात नींव तो उस उदार शिक्षा ने रख दी थी, जो अशोक को बचपन में मिली थी। इस शिक्षा ने उन्हें काफ़ी अशान्त और संशयी बना दिया था। हर विषय का मूल सत्य जानने की उत्कंठा उनके मन में सदैव विद्यमान् रहती थी। ये सारे संशय और मानसिक अशान्ति उस महान् परिवर्तन की भूमिका थे, जो कुछ वर्ष बाद उनके जीवन में आने वाला था।

बुद्ध की शिक्षाओं का अशोक के जीवन पर गहरा भाव पड़ा था। बुद्ध अशोक के जन्म से २५० वर्ष पूर्व हुए थे, परन्तु इन ढाई सौ सालो में बौद्ध-धर्म ने भारत में लाखों अनुयायी प्राप्त कर लिए थे। अशोक प्रायः इन पीतवस्त्र या बौद्ध अनुयायियों को जो स्वयं को भिक्षु कहते थे, पाटलिपुत्र की सड़कों पर 'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' का शातिगान गाते देखा करते थे। उन्होने बुद्ध की शिक्षाओं के विषय मे भी सुना था, और उन्हे ज्ञात था कि बुद्ध के अनुसार जीवन का मार्ग प्रेम और शान्ति का मार्ग होना चाहिए। अशोक की प्रवृत्ति स्वभावतः ऐसे ही सद्विचारों की ओर थी, अतएव उन्होंने बुद्ध के इस कथन की सत्यता को अन्दर-ही-अन्दर मान लिया था कि 'अच्छाई प्रेम और शाति का प्रभाव बुराई, घृणा और अशाति के प्रभाव से कहीं अधिक स्थायी और सुखदायक होता है। अहिंसा की शक्ति हिसा की शक्ति से हजार गुणा बढी-चढ़ी है।'

अशोक के जीवन के इन पूर्व प्रभावों के विषय मे जान लेने के पश्चात् यह कहना आंशिक सत्य ही होगा कि कलिंग के युद्ध की बर्बरता और निर्दयता ने सहसा उनके जीवन में परिवर्तन ला दिया। वास्तव मे उनका जीवन तो परिवर्तन के लिये पूर्णरूपेण तैयार था, कलिंग युद्ध का प्रसंग उसे लाने के लिये निमित्त-मात्र बन गया।

और एकबार अहिंसा और प्रेम का मार्ग अपनाने का निश्चय करने के बाद वह अपने इस निश्चय से कभी डगमगाये नहीं। इस निश्चय से उन्हे जैसे 'जीवन की कुन्जी' का पता चल गया था, और एकबार इस अनमोल कुन्जी को पाकर वह उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। इससे पहले उन्होंने सत्ता, सम्पत्ति, शारीरिक सुख, सभी साधनों को 'जीवन की कुञ्जी' समझकर उनका प्रयोग करके देखा था, परन्तु इनमें से किसी भी साधन ने उन्हे स्थायी शाति प्रदान नहीं की थी।

अन्त में प्रेम और अहिंसा में उन्होंने अपने जीवन के सब प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर पा लिया। कलिंग के युद्ध और उसके फलस्वरूप हुए रक्तपात से उनके मन को जो संताप हुआ था, उसका पश्चात्ताप उन्होंने यह प्रतिज्ञा करके किया कि आगे से वह किसी भी प्राणी के साथ अप्रेमपूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे, और किसी भी अवस्था में हिंसा का आश्रय नहीं लेंगे। इस निश्चय ने उनकी आन्तरिक-दृष्टि को एकदम पैनी और स्वच्छ बना दिया, और अशोक को लगा कि जैसे इस निश्चय के बाद उन्होंने स्वयं पर एक भारी विजय प्राप्त कर ली है। उनके मन की सारी अशान्ति सहसा न जाने कहाँ विलीन होगई, और उन्हें जीवन-पर्यन्त एक ऐसी शान्ति का अनुभव होता रहा जो अनिर्वचनीय है।

परन्तु यह समझना भूल होगी कि अशोक को इस निश्चय को कायम रखने में किन्हीं बाधाओं और कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। अहिंसा और शांति के विरुद्ध लोग जितने आज हैं, उतने ही उस समय में भी थे। स्वयं उनका मन्त्रिमण्डल इस बात के विरुद्ध था कि अहिंसा के आदर्शवाद के लिये इतनी बड़ी सेना को भंग कर दिया जाये। उनकी प्रजा में भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं थी, जो समझते थे कि राजा को अनुदार, कठोर और युद्ध-प्रवीण ही होना चाहिये। सेना की संख्या में कमी करने के विषय में तो उनके प्रियजनों की भी यही राय थी कि यह कमी बहुत कम होनी चाहिये।

अशोक ने जान लिया कि अहिंसा और प्रेम के मार्ग को अपनाकर वह लोकप्रिय सम्राट् नहीं बना रह सकता, परन्तु उन्हें ऐसी थोथी लोकप्रियता की परवाह नहीं थी, उन्हें अपने नये मार्ग की सत्यता में कोई सन्देह नहीं था, और वह जानते थे कि इसी राह उनका तथा लोगों का कल्याण होने वाला है।

अहिंसा की खातिर वह अपने साम्राज्य और जीवन की भी बलि देने में नहीं हिचकिचाते! वह जानते थे कि जीवन और साम्राज्य को खोकर भी वह अपनी अमूल्य निधि, आत्मा को बचाने मे सफल हो सकेंगे।

यद्यपि बौद्धधर्म का प्रभाव देश मे बढ़ता जारहा था, फिर भी देश में उसके अनुयाइयो की अपेक्षा उसके विरोधियों की संख्या ही अधिक थी। ऐसी अवस्था मे अशोक का प्रजा के बहुमत के विरोध की परवाह न करके बौद्ध-धर्म स्वीकार करना, निश्चय ही बडे साहस का कार्य था। परन्तु अशोक की निर्भयता का प्रभाव यह हुआ कि धीरे-धीरे उनके कट्टर विरोधी भी उनके सच्चे अनुयायी और भक्त बन गये।

उस काल के सिद्ध भिक्षु उपगुप्त से बौद्धधर्म की शिक्षा-दीक्षा लेकर अशोक भी एक बौद्ध भिक्षु बन गये और एक सम्राट् होते हुए भी साधारण भिक्षु की भाँति जीवन व्यतीत करने लगे।

कलिंग युद्ध के दुखद अनुभव के बाद उन्होने जान लिया था कि युद्ध, घृणा ही का दूसरा रूप है, और अब उनके हृदय में किसी के लिये भी घृणा नहीं थी, प्रेम था। घृणा और हिंसा के अनैतिक प्रभाव से बचने के लिये ही वह बौद्ध बने थे, क्योंकि उन्हे दीखता था कि बौद्ध बनकर ही वह स्वयं अपने और अपनी प्रजा के जीवन को आशा और सात्विक सौन्दर्य से पूर्ण बना सकेंगे।

अपने चारों ओर की दुनिया उन्हें गलत दीखने लगी, उन्हें मालूम होने लगा कि दुनिया के लोगों के आदर्श ऊँचे नहीं है. उन्होंने भौतिक सुख को ही परम सुख मान रखा है। इसी कारण वे प्रायः दुखी रहते हैं। परन्तु अशोक को नयी दृष्टि प्राप्त हो जाने के बाद लोगों का यह बाहर से सुखी और समृद्धिशाली लगने वाला जीवन, जो प्रायः आन्तरिक सुख और संतोष से शून्य रहता था, व्यर्थ लगने

लगा। उनकी इच्छा हुई कि वह जाकर अपनी प्रजा को बतलायें कि जीवन को वास्तव मे सुखी और मुक्त कैसे बनाया जा सकता है। और यह भी कि प्रेम, घृणा से कहीं अधिक शक्तिशाली है, अहिंसा ही जीवन का नियम होना चाहिये, हिंसा नहीं।

यद्यपि प्रजा मे अशोक के आदर्शवाद और उनकी अहिंसा के सिद्धातों के विरोधियों की संख्या कम नहीं थी, फिर भी कुछ समय बाद साधारण नागरिकों ने अशोक के सीधे और सच्चे सिद्धातों को समझ लिया और वे उनकी शिक्षाओं का पालन करने लगे। लोगो का युद्ध और हिंसा के विरुद्ध होने का कारण यह भी था कि अशोक के राज्य में प्रजा सुखी थी, आर्थिक संकट नहीं था, लोग शिक्षित, कलाप्रेमी और धर्मभीरु थे। ऐसे लोग स्वयं कभी युद्ध के लिये प्रोत्साहित नहीं होते; साधारणतया उनको युद्ध में शामिल होना पड़ता है, अपने राजा की राज्य-विस्तार की भूख के कारण।

बौद्ध होने के बाद अशोक ने अपने लिये अपने अधीन अधिकारियों और प्रजा के लिए नए नियम बनाये। इन नियमों मे एक नियम यह था कि राज्य प्रजा के लिए है, प्रजा राज्य के लिए नहीं। बेशक राजा को अपने राज्य मे शाति और सुव्यवस्था रखने का अधिकार है, परन्तु उसे इस अधिकार का प्रयोग उचित अवसरो पर ही, विवेकपूर्वक करना चाहिए। राजा का धर्म है कि वह गरीब से गरीब के सुख और अधिकारों का भी उतना ही ध्यान रखे जितना कि वह अमीर और सत्ताधारियों के सुख और अधिकारों का रखता है। नगरों में रहने वालों की अपेक्षा, अशोक का ध्यान अपने उन प्रजाजनो की ओर अधिक रहता था, जो छोटे-छोटे गाँवों या जंगलो में रहते थे। अशोक से पहले राजा इन पिछड़ी जातियो के साथ पशुओ-जैसा व्यवहार करते थे, परन्तु अशोक का व्यवहार उनके

साथ ऐसा था, जैसा कि पिता का पुत्र के साथ होता है।

पशुओ की हत्या न करने की आज्ञा, अशोक ने अहिंसक होते ही, सारे राज्य में घोषित कर दी थी। बीमार पशुओ की चिकित्सा के लिये अनेको अस्पताल भी उन्होने खुलवाये। उन दिनों पशु-बलि एक धार्मिक कृत्य माना जाता था और कट्टरपंथियों ने पहले इस आज्ञा का बहुत विरोध किया परन्तु विरोध और आलोचनाओ के रहने पर भी अशोक ने अपनी आज्ञा वापिस नहीं ली।

बौद्ध धर्म में पूरी आस्था रखते हुए भी अशोक अन्य धर्मों के प्रति उदार और सहिष्णु थे। उनके राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को मानते रहने का पूरा अधिकार था।

२८ वर्ष तक अशोक ने न केवल विशाल साम्राज्य पर शातिपूर्वक राज्य किया, बल्कि प्रजा के साथ उनका व्यवहार इतना मानविक और सहृदयतापूर्ण हो गया था कि प्रजा उन्हे पितातुल्य मानने लगी थी। अपने राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुख में भाग लेने के लिये वह सदैव तत्पर रहते थे। छोटा-बडा, गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, कोई भी, किसी समय निःसंकोच उनके पास अपनी प्रार्थना लेकर पहुँच सकता था और वह हर प्रार्थना को बडे ध्यान से सुनते थे और तत्काल ही प्रार्थी को उचित संतोष देने का आयोजन कर दिया जाता था।

कुशल शासक होने के साथ अशोक ऊँचे दर्जे के कला-पारखी भी थे। उन्होंने जो इमारतें बनवायी उनके ध्वंसावशेषों को ही देखकर उनकी कलाप्रियता का अनुमान सहज में लगाया जा सकता है। इमारतो में पत्थर का प्रयोग करवाने वाले वह पहले भारतीय सम्राट् थे और यह बात ध्यान में रखते हुए भी कि पत्थर की इमारतें उन्होंने ही सबसे पहले निर्मित कराईं उन इमारतो का सौन्दर्य और उनकी सम्पूर्णता आज भी अनुपमेय है। सारनाथ के स्तूप इस कथन का एक

प्रमाण हैं। एक प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास-लेखक के अनुसार "शैली और रचना दोनों दृष्टियों से अशोक द्वारा निर्मित स्तूप और शिलायें कला और शिल्पकारी का उत्तम नमूना है। संसार के इतिहास में, इस ढंग की जितनी पुरानी इमारतों का वर्णन है, उनमें अशोक द्वारा निर्मित इमारतें निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ है।" दुर्भाग्य से अशोक द्वारा बनवाये गये अधिकाश महल और दुर्ग अब ढह चुके हैं, केवल कुछ स्तूप और शिलाये ही शेष हैं।

अपने राज्य के अनेक स्थानों पर अशोक ने शिलास्तम्भ निर्मित कराये थे, जिनपर उसने अपने और अपने साम्राज्य के विषय में थोड़ा उल्लेख होने के अतिरिक्त वे नियम भी अंकित है, जो उन्होंने प्रजाजनों के लिये बनाये थे। मामूली पत्थरों को किस प्रकार इतना अधिक चमकाया गया था कि उनकी चमक दो हजार साल बाद भी शेष है, यह भेद आधुनिक इञ्जीनियर अभी तक नहीं जान सके हैं। यह शिलालेख अशोक के सर्वश्रेष्ठ स्मृतिचिन्ह है और इनको पढ़कर उनके राज्यशासन, राज्य-विस्तार आदि बातों का पता लगने के साथ यह भी पता चलता है कि अशोक कितने विशाल हृदय वाले सम्राट् थे। अब तक ऐसी ३० शिलाओं का पता चल सका है। हमारी वर्तमान सरकार ने अशोक चक्र, अशोक शिल्प और सिंह-मुख का सरकारी चिन्ह इन्हीं शिलाओं से लिया है।

इस व्यक्तिगत प्रयत्न के अतिरिक्त बौद्ध-धर्म के प्रसार मे अशोक का बड़ा हाथ रहा था। बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये उन्होंने दक्षिणी एशिया, पूर्वी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका के प्रदेशों मे अपने प्रतिनिधि भेजे। स्याम, लङ्का, तिब्बत, चीन, जापान और बर्मा में बौद्ध धर्म के प्रचार का मुख्य श्रेय अशोक को ही मिलना चाहिये। स्वयं उन्होंने देश-भर मे २५६ बार दौरा करके बौद्ध-धर्म

का प्रचार किया। इस अदम्य उत्साह का ही यह प्रभाव था कि अशोक के बाद कट्टर हिन्दुओं के तीव्र विरोध के रहने पर भी, १००० वर्ष तक बौद्ध-धर्म का झण्डा भारत तथा अन्य देशों में गडा रहा।

बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये अशोक ने अपने छोटे भाई महिन्द और बहन संघमित्रा को लंका, दक्षिण भारत, हिमालय प्रदेश, ब्रह्मा और काश्मीर भेजा। आज इन प्रदेशों में बौद्ध-धर्म का जो बृहद् प्रचार देखने मे आता है, उसकी नींव अशोक ने ही रखी थी। यह अशोक के ही प्रयत्नों का फल था कि भारत के एक छोटे भाग में माना जानेवाला बौद्ध-धर्म, कुछ ही वर्षों में तिहाई विश्व में फैल गया, और आज संसार के बड़े धर्मों में से एक है।

लङ्का का राजा तिस्सा अशोक का मित्र था, तथा उनके विचारों का आदर करता था। इसलिये लङ्का मे बौद्ध-धर्म का प्रसार होने में कठिनाई नहीं हुई। लङ्का-नरेश को अशोक के प्रचारकों ने बुद्ध गया के पवित्र बोधि-वृक्ष की एक शाख प्रदान की। भगवान् बुद्ध को इसी वृक्ष के नीचे आत्मसाक्षात्कार हुआ था।

अशोक ने स्वय अपने साम्राज्य मे बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये सैकडो की संख्या मे विशेषाधिकारी नियुक्त किये। इन अधिकारियो का कार्य प्रजा के निर्बल, रक और असहाय जनों को हर प्रकार की सहायता पहुँचाना था। एक राज्यादेश मे अशोक ने कहा : "मेरे सब अधिकारियो की नियुक्ति इसलिये हुई कि वे प्रजा पर शासन करने के साथ-साथ अपराधो तथा कुकर्मों की देखभाल करें, तथा अपराधियो को दण्ड दें, ताकि धर्मभीरु प्रजा सुख व शाति के वातावरण मे रह सके। अधिकारी प्रजा के सुख तथा सुरक्षा के लिये उत्तरदायी हैं। वे हमेशा प्रजा को ऐसे मार्ग दिखाते रहेंगे, जिन पर चलकर प्रजा का इहलोक और परलोक दोनों सुधरें। सभी अधि-

कारी स्वयं भी इन आदर्शों पर चलने का प्रयत्न करते रहेंगे।"

क्रमशः अशोक ने अपने महल और दरबार की रूपरेखा साधारण कर दी, ऐश्वर्य तथा विलास की सब वस्तुएँ हटा दी गईं।

एक किम्वदन्ती के अनुसार अशोक ने ऐसे ८०,००० स्तूपों का निर्माण कराया। इन स्तूपों के अतिरिक्त अनेक नगरों, भवनों, सड़कों तथा कूओं आदि का निर्माण अलग से कराया। इनमें से वर्खारा, नवनगढ़ और साची के स्तूप सर्वाधिक विख्यात हैं। इन स्तूपों पर हुए खुदाई के कार्य में एक कलात्मक संगति तथा उच्चता है।

इन स्तूपों के निर्माण का ध्येय कुछ ऐसे उदार और व्यापक सिद्धान्तों का प्रचार था, जो संसार के सभी धर्मों का आवश्यक अंग हैं। अशोक का किसी देवता विशेष की पूजा या पूजा की किसी विशेष विधि पर ज़ोर न देकर प्रत्येक धर्म के मूलतत्वों के प्रचार पर ही ज़ोर देना उनके निष्कपट धार्मिक-प्रेम का परिचायक है।

प्रसिद्ध लेखक री डेविस के मतानुसार अशोक इन आदर्शों का प्रचार और प्रतिपादन करना चाहते थे :

१. पशु-बलि किसी हालत मे न हो।

२. ऊँची जगहों के जातीय भोज, जो मात्र प्रदर्शन के लिये होते हैं, बन्द हों।

३. माता-पिता की आज्ञा का पालन अच्छा है।

४. ब्राह्मणों, शरणागतों, मित्रों तथा परिजनों से प्रेमपूर्ण व्यवहार आवश्यक है।

५. किसी भी प्राणी को कोई दुख न पहुँचाना अच्छा है।

६. कमखर्च रहना तथा वादविवादों से दूर रहना अच्छा है।

७. आत्मसंयमी रहना, अंतःकरण की स्वच्छता रखना तथा विनम्र रहना उन लोगों के लिये भी सम्भव है, जो ग़रीब हैं, और

दूसरों को दान नहीं दे सकते।

८. पूजा और उत्सव अधिकतर रोग, विवाह, जन्म, या यात्रा के अवसरों पर किये जाते हैं। ये उत्सव व्यर्थ हैं। शुभ उत्सव केवल एक है और वह सदैव किया जा सकता है। वह है नियमों के पालन का उत्सव। अपने नौकरों से उचित व्यवहार करना, गुरुओं का आदर करना, भौतिक सुखो के उपभोग में संयम रखना, तथा ब्राह्मणो और शरणागतो के प्रति विनम्र और उदार रहना, यह वे कुछ नियम हैं। इसीलिये प्रत्येक पिता, भाई और गुरु को अपने छोटों को इन नियमों का पाठ सिखाना चाहिये। इन नियमों के पालन से सबका स्थायी भला होगा। दान करना अच्छी बात है, पर इन नियमों के ज्ञानदान से बढ़कर कुछ अच्छा नहीं है।

९. सहिष्णुता। प्रत्येक जन का, चाहे वह विधर्मी अथवा शरणागत ही क्यों न हो, समान आदर करना चाहिये। वाणी मे सयम रखना ठीक है। प्रत्येक को यह अधिकार देना चाहिये कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार ही उस मूल तत्त्व को जाने जो सब में है, सब कहीं है।

१०. सबको अपने अच्छे कामों के साथ-साथ अपने बुरे कामों के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये। इस प्रकार का आत्म-निरीक्षण निःसन्देह एक कठिन कार्य है, परन्तु फिर भी सबको सदैव यह सोचते रहना चाहिये कि जिस कार्य को करने से क्रोध, अहंकार अथवा निर्दयता आदि को जन्म अथवा उत्तेजना मिले, उनका बहिष्कार होना आवश्यक है। ऐसा करने से ही इहलोक और परलोक में भला होगा, अन्यथा नहीं।

ईसा के जन्म से २४९ वर्ष पूर्व अशोक ने अपने साम्राज्य के पवित्र स्थानों का भ्रमण आरम्भ किया। पाटलीपुत्र से हिमाञ्चल प्रदेश तक की एक यात्रा मुजफ्फरपुर और चम्पारन के मार्ग से हुई थी। और

उस यात्रा के स्मृतिस्वरूप उन्होंने पाच विशाल स्तूपों का निर्माण कराया। वहाँ से पश्चिम की ओर आकर अशोक ने प्रसिद्ध लुम्बिनि बाग में, जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था, एक अन्य विशाल स्तूप स्थापित कराया। वहाँ से उनके पथप्रदर्शक उपगुप्त उन्हें प्रथम कपिलवस्तु ले गये, जहाँ बुद्ध ने अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था, पश्चात् सारनाथ, और गया जहाँ भगवान् ने उपदेश दिये थे और जहाँ उन्हें आत्मज्ञान हुआ था। अन्त में वे कुशीनगर आये, जहाँ भगवान् बुद्ध ने प्राणत्याग किया था। इन सब स्थानों मे अशोक ने स्तूपों का निर्माण कराया तथा बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये विहार-संस्थायें और पाठशालायें खुलवाईं।

इस यात्रा के दो साल बाद अशोक ने पुनः भिक्षुओं के पीत-वस्त्र धारण किये, और राज्य-संचालन करते हुए भी विरक्त का-सा जीवन व्यतीत करने लगे। पहली बार पीतवस्त्र धारण करने के समय वह बुद्ध के एक साधारण अनुयायी मात्र थे, पर इस बार वे उन परमशिष्यों की श्रेणी में आ चुके थे, जो निर्वाण-प्राप्ति के लिये संसार से विरक्ति का जीवन व्यतीत करते हैं। राज्य-संचालन का अधिकांश भार उनके पुत्र तथा मन्त्रियों पर था, पर मुख्यादेश वही देते थे। पीतवस्त्रधारी सम्राट् द्वारा इतने बडे साम्राज्य के संचालन की कल्पना ही मन में एक अपूर्व विमुग्धता ला देती है।

उनके जीवन के अन्तिम आठ वर्षों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतिहास-लेखकों को केवल इतना ज्ञात है कि ईसा के जन्म से २३२ वर्ष पूर्व उनका देहान्त हुआ। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके दो पोते दशरथ और सम्प्रति गद्दी पर बैठे। दशरथ साम्राज्य के पूर्व भाग का शासक बना और सम्प्रति पश्चिमी भाग का।

अशोक ने अपने एक अतिमहान् और अति दीर्घ कार्य अपने हाथमें

लिया था। यदि वह कार्य पूर्णरूपेण सफल न हो सका, तो इसके लिये दोषी उन्हें ठहराया जा सकता। क्योंकि जिन आदर्शों पर जिस प्रकार चलने की सीख उन्होंने अपनी प्रजा को दी, उन्हीं आदर्शों पर उसी प्रकार चलने का कठिन कार्य भी उन्होंने सतत रूप से किया।

'उच्च जीवन क्या है?' इस प्रश्न के उत्तर मे एक महान् लेखक ने लिखा है कि उच्च-जीवन एक उच्च-विचार का, जो युवावस्था मे जन्म लेता है, जीवन के शेष वर्षों में कार्यरूप में परिणत करने के प्रयत्न का दूसरा नाम है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो शिवाजी का जीवन उच्च जीवन था, और शिवाजी एक महान् व्यक्ति थे, मामूली लुटेरे योद्धा नहीं, जैसा कि कई संकुचित विचारवाले इतिहास-लेखकों का विचार है।

अपनी नवयुवावस्था मे अपनी जाति की दुर्दशा देखकर शिवाजी ने निश्चय किया था कि बडे होकर वह अपनी जाति को परतंत्रता के चंगुल से छुडाकर स्वाधीन बनायेंगे और उसे एक सम्मानपूर्ण जीवन बिताने का अवसर देंगे। जीवन के अन्त मृत्यु तक उन्होंने अपने इस स्वप्न को काफ़ी सीमा तक सच्चा कर दिखाया। महाराष्ट्र के हिन्दुओं को उन्होंने मुसलमानी दासता से छुड़ाकर स्वयं अपने पैरों पर खडे होकर बढ़ने के लिये मुक्त कर दिया। शिवाजी से पहले महाराष्ट्र के निवासियों में एकता की भावना नहीं थी, शिवाजी ने उन्हे एक झंडे के नीचे एकत्रित करके स्वदेशाभिमान और जाति अभिमान का संजीवन-मंत्र उनमे फूँका।

यह सच है कि शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य उनकी मृत्यु के नौ-दस वर्ष बाद ही छिन्न-भिन्न होगया। इसका कारण उनके पुत्र सम्भाजी की मूर्खता और निर्बलता थी। परंतु जो नींव उन्होंने तैयार

की, उसी पर आगे चलकर पेशवाओं का साम्राज्य आधारित हुआ। यदि शिवाजी महाराष्ट्र का जबर्दस्त संगठन न कर जाते तो पेशवा लोग एक सौ वर्ष तक भारत पर राज्य करने मे कभी सफल न होते।"

शिवाजीका जन्म १० अप्रैल, १६२७ई० को हुआ था। उनके पिता शाहजी भोंसले चित्तौर के राजा लक्ष्मणसिंह के पोते सजनसिंह के वंश के थे। 'भोसले' कुल के नाम का जन्म उदयपुर के भोसावत वंश से हुआ था। उदयपुर से आकर सजनसिंह तथा उसके वंशज अहमदनगर के राजा की सेना में भरती होगये। शिवाजी के परदादा दौलताबाद के निकट वसल गाव के पाटिल थे। उनके वंश का अभ्युदयकाल उनके दो लड़कों, मालोजी और विटोजी के समय मे हुआ। कहा जाता है कि एकबार देवी पार्वती ने उनसे स्वप्न मे कहा कि उनके घर में गुप्तधन छिपा है। उन दोनों ने उस गुप्तधन को ढूँढ निकाला और उसकी सहायता से एक छोटी सेना खड़ी की। इस सेना को उन्होंने फल्टन के वर्तमान शासक के पूर्वज जगपतराव निम्बालकर के सुपुर्द कर दिया। बाद मे मालोजी ने निम्बालकर की बहन दीपाबाई से विवाह किया। एक मुस्लिम संत शाह शरीफजी की अनुकम्पा से उन्हे १५६४ ई० मे एक पुत्र उत्पन्न हुआ. जिसका नाम उन्होंने सत के नाम पर शाहजी भोसले रखा।

जब शाहजी दस वर्ष के थे, तब मालोजी की इच्छा हुई कि उसका विवाह अहमदनगर के प्रमुख सरदार लाखोजी जाधवराव की कन्या जीजाबाई से कर दिया जावे। लाखोजी देवगिरी के यादव राजाओ के वंश का था। एकबार होली के दिन जीजाबाई तथा शाहजी को साथ खेलते देखकर लाखोजी ने स्वय मालोजी से दोनों का विवाह करने की कामना प्रकट की। पहले इस विचार के लिये लाखोजी की पत्नी ने बहुत विरोध किया, पर अन्त मे यह विचार

सम्पन्न हो ही गया।

१६२३ ई० में जीजाबाई के सम्भाजी नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके बाद शाहजी अहमदनगरके राजा की ओर से मुगलों से लडने में इतना व्यस्त रहा कि उसे घर जाने के अवसर कम ही मिलते थे। एक रात, ऐसा कहा जाता है कि उसे स्वप्न में एक साधु आम लिये दिखाई दिया। साधु ने आम उसे देकर कहा "जाओ, यह आम तुम और तुम्हारी पत्नी खा लो। कुछ समय बाद तुम एक ऐसे पुत्र के पिता बनोगे जो स्वयं भगवान् शिव का अवतार स्वरूप होगा।" जब शाहजी का स्वप्न टूटा तो उसने देखा कि उसके हाथ में वास्तव में एक आम था। यह आम उसने स्वयं भी खाया तथा अपनी पत्नी को भी दिया। कुछ समय बाद जीजाबाई को एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। शाहजी ने उसका नाम भगवान् शिव के नाम के आधार पर शिवाजी रखा।

१६३२ ई० में शाहजी के एक शत्रु मल्दहारख़ान ने अहमदनगर पर हमला कर शाहजी की पत्नीको कोन्डाना (वर्तमान सिंहगढ़)के किले में कैद कर लिया। कुछ नौकरों की चतुराई से शाहजी कैद होने से बच गये। जब अहमदनगर के विभाजन के पश्चात् दिल्ली और बीजापुर में सन्धि हुई तब जीजाबाई को मुक्ति मिली। परन्तु इस बीच शाहजी ने बीजापुर रियासत में नौकरी कर ली थी और मोहिते परिवार की तुकाबाई नामक एक लड़की से विवाह भी कर लिया था। इस घटना के बाद जीजाबाई और शाहजी के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण न रहे।

१६३७ ई० में जब शिवाजी की आयु १० वर्ष की थी, जीजाबाई ने उनका विवाह बीजापुर में विटोजी तेवसकर की पुत्री साईबाई से कर दिया।

अपने जन्मकाल से ही शिवाजी को मुगलों से तीव्र घृणा हो

गई। मुगलों ने ही उसकी मा को कैद किया था, तथा इसके अतिरिक्त भी वे उनके अत्याचारों को देखा करते थे। उन्होंने बीजापुर के राजा की आज्ञाये मानने से इन्कार कर दिया तथा गोवध के विरुद्ध एक सामूहिक प्रदर्शन किया, जिससे बीजापुर का राजा चिढ़ गया। शाहजी ने तुरन्त शिवाजी तथा जीजाबाई को पूना के निकट अपनी एक छोटी रियासत में भेज दिया। वहा उनकी देखभाल के लिये उसने दादाजी कोन्डादेव नामक ब्राह्मण को भी भेज दिया।

शाहजी की अनुपस्थिति मे मुस्लिमों ने इस स्थान को बिल्कुल उजाड़ डाला था। दादाजी कोन्डादेव ने पुनः किसानों को इस क्षेत्र में खेती करने के लिये राजी किया तथा उसकी सुरक्षा का जिम्मा अपने ऊपर लिया। आजकल भूला नदी की दाहिनी ओर, जहा म्यूनिसपल बाग है, शिवाजी तथा जीजाबाई के लिये उन्होंने एक घर तैयार किया। बाद मे शाहजी ने इस रियासत में इन्दापुर और बारामती के उन दो तालुकों को भी सम्मिलित कर लिया, जो बीजापुर नरेश ने उन्हें प्रदान किये थे। धीरे-धीरे यह क्षेत्र पैदावार और आबादी की दृष्टि से उन्नति करने लगा।

इसके बाद दादाजी तथा जीजाबाई ने शिवाजी की शिक्षा की ओर ध्यान दिया। दादा ने शिवाजी को सह्याद्रि पर्वत के सभी रास्तों से भी भली-भाति परिचित करा दिया। इस शिक्षा-दीक्षा का परिणाम यह हुआ कि अठारह वर्ष की आयु हो जाने पर निडर-योद्धा शिवाजी ने बीजापुर नरेश के चंगुल से अपनी मातृभूमि को मुक्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

जीजाबाई भी अपने पुत्र को बहुत प्यार करती थी और आरम्भ से ही उनकी इच्छा थी कि शिवाजी बडा होकर कुशल योद्धा और महान् व्यक्ति बने। उन्होंने बालक शिवाजी को परियों और भूतों की

कहानियो के स्थान पर पराक्रमी और तेजस्वी राजकुमारो और राजाओ, भरत, राम, कृष्ण, अर्जुन आदि की कहानियाँ सुनाईं। इन कहानियों को सुन-सुनकर बालक शिवाजी के मन मे भी इन कहानियों के नायकों के समान यशस्वी बनने की प्रबल आकांक्षा होती थी। शिवाजी को महान् पुरुष बनाने में उनकी मा जीजाबाई ने बहुत योग दिया और शिवाजी की सफलता का बड़ा श्रेय उन्हें मिलना चाहिये।

मा से स्फूर्तिदायक आख्यानो को सुनते-सुनते ऐसी कहानियों को सुनने का शौक शिवाजी में इतना बढ़ गया था कि बड़े होकर भी अपने प्रिय कवि भूषण से ऐसी कथायें सुनते थे। भूषण भी शिवाजी के विषय मे जोशीली कवितायें लिखकर अमर होगये। एकबार जब भूषण कवि शत्रुओं के हाथ में पड गये थे, शिवाजी केवल उनकी कविता सुनने के लिये छद्मवेश धारण करके शत्रु के दरबार मे पहुँचे थे।

जिस घर में शिवाजी का जन्म हुआ था वह पूना के किले के पास की एक पहाड़ी पर था। यहाँ से बालक शिवाजी अपने प्रान्त के वन-सौन्दर्य को निहारता-निहारता उन छोटे-छोटे युद्धों के बारे में भी सोचता रहता था, जो हर तीन-चार महीने बाद उसके आस-पास के प्रदेशों मे चलते रहते थे और जिनमे भाग लेने के लिये उसके आस-पास के गाँववालों को ज़बर्दस्ती जाना पड़ता था। कभी-कभी उन गाँव वालो में से कोई भी जीता नहीं लौटता था और कभी-कभी जब वे जीतकर भी आ जाते थे, तो कुछ महीने बाद शत्रु लोग आकर उन्हें उनके ही घरों मे बन्दी कर लेते थे और उनके घरों को लूटकर उनमें आग लगा देते थे।

उस समय की दक्षिण की छोटी-छोटी मुसलमानी रियासतें हमेशा

मुगलों के विरुद्ध लड़ती रहती थीं। औरंगज़ेब के कारनामों से उस समय के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही तंग आ चुके थे और वे उससे मुक्त होना चाहते थे। इस युद्ध में कभी मुगल विजयी हो जाते और कभी दक्षिणी रियासतें। वास्तव में जिस दल को हिन्दुओं की सहायता मिल जाती, वही जीतता था। इसलिये दोनों दल हिन्दुओं को अपनी ओर करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे।

हिन्दुओं की संख्या अपार थी, और वह सस्ते में प्राप्त भी हो जाते थे। परन्तु विजय के पश्चात् विजेता दल उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था और उन्हें पुरस्कृत करने के स्थान पर उल्टा दबाने का प्रयत्न करता था। असंगठित, दरिद्र और अज्ञानी होने के कारण हिन्दू कुछ न कर पाते।

शिवाजी अपने जातिबन्धुओं की इस दैनिक-दुर्दशा को देखते और उनका मन खिंचकर रह जाता। जब वह कुछ बड़े हुए, तो उन्होंने इन गाँववालों से मित्रता बढ़ानी आरम्भ की और उनके साथ रहकर तीर-तलवार चलाना, आक्रमण करना, रक्षा करना, आदि युद्ध की सब कलायें और दाव-पेंच सीख लिये। साथ ही उन्होंने पूना के आस-पास की सब पहाड़ियों और घाटों के ज्ञात-अज्ञात रास्ते भी मालूम कर लिये।

उन्होंने देखा कि मराठे बिखरे रहकर अपनी शक्तियों का अपव्यय कर रहे हैं, यदि कोई नेता उन्हें संगठित कर सके, तो वह एक शक्तिशाली सेना तैयार कर सकता है। मराठे स्वभाव से निर्भय, शूर और चतुर होते हैं, मगर उनमें कमी थी अनुशासन और संगठन की। शिवाजी ने उन्हें संगठित करने का दुष्कर-कार्य अपने जिम्मे लिया।

एकबार यह जिम्मा लेने पर यही कार्य उनका जीवनोद्देश्य बन

गया। रात-दिन उन्हें यही चिन्ता रहती कि अपने साथियों को किस प्रकार एक ऐसे सूत्र में बाँधा जाये जिससे वह कभी अलग न हो सकें, और जिसमें बंधे रहकर वह अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र करते जायें। अबतक मां से जिन नेताओं की कहानियाँ उसने सुनी थीं, ऐसा ही एक नेता बनने की ज्वलन्त-इच्छा नवयुवक शिवाजी के मन मे जाग्रत होकर दिन-प्रतिदिन अधिक ज्वलन्त होती चली गई।

उस समय नवयुवक शिवाजी के सामने यह प्रश्न नहीं था कि वह अशिक्षित है और आगे चलकर उसे शिक्षित और अनुभवी सरकारों से मोर्चा लेना होगा, न ही शिवाजी के पास यह सोचने का समय था कि वह एक गरीब परिवार में पैदा हुआ है और उसकी आकृति नेताओं जैसी प्रभावशाली नहीं है। शायद उसने यह भी नहीं सोचा होगा कि मुट्ठी-भर साथियों का सामूहिक शारीरिक-बल और शस्त्र-चतुराई उस महान् उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेंगे जो उसके सामने था, उस उद्देश्य-प्राप्ति के लिये धन तथा अन्य साधनों की भी आवश्यकता है।

इन सब कमियों के बावजद भी नवयुवक शिवाजी मे ऐसे कौन से गुण थे, जिनके कारण उनको अपने कठिन उद्देश्य की पूर्ति के लिये सतत सहायता और सहयोग मिलता रहा और जिनके कारण उन्हें निराशा या असफलता का सामना नहीं करना पड़ा।

ये गुण थे—उनकी दिलेरी, उनका देशप्रेम और उनकी युद्ध-कुशलता।

देखने में शिवाजी एक दुर्बल पुरुष दीखते थे, परन्तु उनके अवयव वर्षों के कठिन-युद्धाभ्यास और कठिन-जीवन से सुदृढ़ बन गये थे। दरिद्रता ने उन्हें भूख, प्यास और मौसम की तीव्रता को सहन करना सिखा दिया था। घुडसवार वह इतने अच्छे थे और अपने

इलाके की सब पहाड़ियों के मार्गों का ज्ञान उनका इतना सही था कि शत्रुओं द्वारा उन्हें दी गई उपाधि 'पहाड़ी चूहा' एक प्रकार से ठीक ही थी।

किसी शाला मे शिक्षा न पाकर भी माँ के मुँह से युद्ध और योद्धाओं की कहानियाँ सुनते-सुनते शिवाजी का मस्तिष्क युद्ध-कला के दाँव-पेचों और बारीकियों को समझने में अत्यन्त प्रवीण होगया था। अपने शत्रुओं से मोर्चा लेने से पहले वह युद्ध की पूरी योजना तैयार कर लेते थे। योजना तैयार करते समय वह इस बात का पूरा ध्यान रखते थे कि जिससे अपने दल को कम-से-कम हानि पहुँचे। अपने शत्रुओं की कमजोरियों का वह पूरा लाभ उठाते थे और बहुधा अपनी सारी शक्ति उस कमजोर भाग पर केन्द्रित करके ही अपने से कई गुना शक्तिशाली शत्रु को परास्त कर देते थे। शिवाजीकी जीवनी इस सत्य का प्रमाण है कि मेधावी व्यक्ति शिक्षा और अनुभव के न होने पर भी आत्म-निर्भर रहकर और कठिन श्रम करके उन व्यक्तियों से आगे निकल सकता है, जिन्हें शिक्षा और अनुभव दोनों मिले हों।

शिवाजी चतुर और पराक्रमी होने के अतिरिक्त भावुक भी थे। उनकी भावुकता की कई घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। शत्रु-दल के सिपाहियों और अफसरों को गिरफ्तार करने के बाद उनपर सख्ती करने की अपेक्षा वह उन्हें इनाम देकर छोड़ देते थे। एक बार औरंगजेब के एक सेनापति ने जो शिवाजी को 'सबक सिखाने के लिए' दिल्ली से आया था, पूना से शिवाजी को हटाकर उस पर अपना कब्जा कर लिया। शिवाजी और उनके कुछ साथी, बरातियों के वेश में एक बरात में शामिल होकर उस महल में दाखिल हो-गये, जहाँ वह सेनापति ठहरा था। सेनापति के कमरे मे पहुँचकर शिवाजी और उनके साथियो ने सेनापति पर आक्रमण किया। बेचारा

सेनापति डर के मारे खिड़की के रास्ते बाहर भाग गया, मगर भागते-भागते भी उसकी एक अँगुली तलवार के प्रहार से कट ही गई। उस सेनापति के लड़के तथा कई सिपाहियों को मारकर शिवाजी और उन के साथी सकुशल वापिस लौट आये।

जब औरंगजेब ने शिवाजी और उनके लड़के को आगरे में बन्दी बना लिया था, तब उन्होंने बन्दीगृह से भाग निकलने का एक अनूठा उपाय सोचा। बन्दीगृह से उन्होंने आम तथा अन्य फल अपने सम्बन्धियों को भेजने आरम्भ कर दिये और एक दिन आमो के इन्हीं दो टोकरों में बैठकर पिता-पुत्र बन्दीगृह से भाग निकले। रास्ते में जब उन्हें पकड़ने के लिए खुफ़िया सिपाही जगह-जगह तैनात कर दिये गये, तब दोनों ने अपनी दाढ़ी और मूँछ मुँड़वाकर, सारे शरीर मे भभूत मलकर संन्यासी का वेश बना लिया और इसी वेश में अपने स्थान पहुंचे। वह हमेशा ख़तरे का जीवन पसन्द करते थे, और जो-आदमी ख़तरे के बीच चलता रहता है, उसमें भावुकता आप-ही-आप आ जाती है।

शिवाजी के शत्रुओं ने भी स्वीकार किया है कि स्त्रियों और विशेषतया शत्रु-दल से पकड़कर आई हुई स्त्रियों के साथ, शिवाजी का व्यवहार कितना आदरपूर्ण होता था। युद्ध मे विजयी होने के बाद भी पराजित भूमि-प्रदेश के किसी भी धार्मिक स्थान को चाहे वह मस्जिद रही हो या गिरजाघर उन्होने नष्ट नहीं किया और न उन्हें लूटा ही।

१६४६में शिवाजी ने पूना के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित तोरण नामक किले को जो बीजापुर नरेश के कब्ज़े में था, जीत लिया। इस किले के अधिकारी वर्षाऋतु मे इस किले को छोड़कर बाहर चले जाते थे तथा शीत ऋतु के आरम्भ होने पर लौटते थे। शिवाजी ने

उनकी इस अनुपस्थिति का लाभ उठाकर किले के खज़ाने तथा उसके अस्त्र-शास्त्रो पर अधिकार कर लिया। किले के अधिकारी ने बीजापुर-नरेश से शिकायत की, पर शिवाजी ने बीजापुर के दरबारियों को घूस देकर स्वय को ही किले का अधिकारी नियुक्त करा लिया।

कुछ दिन के बाद शिवाजी ने तोरण से छः मील दूरस्थित मोरबाद पहाड़ी को जीतकर वहा राजगढ़ नाम का किला बनाया। कुछ समय पश्चात् उनकी रियासत के दक्षिणी-भाग मे स्थित कोंडाना और वन्दर नाम के किले भी उनके अधिकार में आगये। कोंडाना का नाम शिवाजी ने बदलकर सिंहगढ़ रखा।

यह चारो किले तो शिवाजी के अधिकार मे आगये पर उनकी सुरक्षा मे उनका खजाना खाली होगया। रुपया एकत्रित करने के इरादे से उन्होंने कल्याण के मुसलमान शासक के उस शाही ख़जाने को, जो कल्याण से बीजापुर जा रहा था, लूटा। इस विपुल राशि की प्राप्ति से शिवाजी का उत्साह बढ़ गया और उन्होने कुछ ही समय मे पूना के पश्चिम मे स्थित नौ किलो को जीतने के अतिरिक्त स्वय कल्याण को भी अपने अधिकार मे कर लिया।

जब यह समाचार बीजापुर-नरेश को मिला, तो उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने शिवाजी के पास सन्देश भिजवाया कि वह तुरन्त बीजापुर दरबार मे उपस्थित हो। शिवाजी ने उत्तर भिजवाया कि यदि उसके अधिकार मे जो किले और भूमि है, वह उसके पास ही रहने दिये जाये तो वह आने के लिये तैयार है। शिवाजी के इस उत्तर से और भी क्रोधित होकर बीजापुर-नरेश ने एक मराठा सरदार बाजी घोरपडे के हाथ शिवाजी के पिता शाहजी को पकड़कर एक दीवार मे आधा चिनवा दिया और शाहजी से कहा कि वह तभी मुक्त हो सकता है, जब शिवाजी दरबार मे आकर आत्मसमर्पण करे।

शिवाजी ने स्वयं को इस नाजुक परिस्थिति में पाकर दिल्ली-सम्राट् शाहजहा से मध्यस्थता के लिये प्रार्थना की। शाहजहां ने यह समझकर कि यह बीजापुर के मामले में पड़ने का अच्छा अवसर है, बीजापुर-नरेश को आदेश दिया कि शाहजी को तुरन्त मुक्त कर दिया जाए। बीजापुर-नरेश ने डरकर शाहजी को मुक्त कर दिया। परन्तु उसने जावली के राजा, बालाजी मोरं को शिवाजी की हत्या करने के लिये भेजा। पर मोरं के शिवाजी की हत्या करने के सब प्रयत्न ही विफल नहीं हुए, उसे अपने राज्य तथा खज़ाने से भी हाथ धोना पड़ा। इस खजाने की सहायता से शिवाजी ने प्रतापगढ़ नामक किले की स्थापना की।

इसी समय शाहजहा ने अपने तीसरे लडके औरंगजेब को बीजापुर पर आक्रमण करने के लिये भेजा। शिवाजी ने अपने पहले एक वायदे के अनुसार इस आक्रमण मे मुग़लों की सहायता करने का वचन दिया। अभी इस आक्रमण की तैयारिया चल ही रही थीं कि शाहजहां बीमार पड़ गया और स्वय सम्राट् बनने का इच्छुक औरंगज़ेब दिल्ली चला गया। बीजापुर-नरेश से लडने के लिए शिवाजी अकेले रह गये।

शिवाजी ने बीजापुर-नरेश का छोटा बन्दरगाह जञ्जीरा जीतने का प्रयत्न किया, पर उसमें सफलता न मिली। बीजापुर-नरेश ने शिवाजी की आकांक्षाओं को हमेशा के लिये समाप्त करने के उद्देश्य से अफ़ज़लखा को भेजा, जो जावली के आसपास के क्षेत्र को, जो शिवाजी के अधिकार में था, अच्छी तरह जानता था।

अफ़ज़लखां ने कहा कि वह शिवाजी को लोहे के एक पिंजडे मे पकड़कर लायगा। जावली के निकट आकर उसने अपने एक सरदार कृष्णाजी भास्कर को शिवाजी के पास भेजा कि अफ़ज़लखां उससे कुछ

मैत्रीपूर्ण विचार-विमर्श करना चाहते हैं। इस बीच शिवाजी के एक गुप्तचर विश्वासराव कोरेकर ने आकर शिवाजी को अफजलखां के असली इरादों से परिचित करा दिया था। शिवाजी ने कृष्णजी से शपथ लिवाकर यह जान लिया कि अफजलखां का असली उद्देश्य मैत्रीपूर्ण विचार-विमर्श नहीं, उसे मारने का है।

शिवाजी ने अफजलखा के नाम एक सन्देश भिजवाया कि वह उससे सन्धि करने के उद्देश्य से एकान्त मे भेंट करना चाहते हैं। अफजलखा ने इस प्रस्ताव को मान लिया, भेंट का समय और स्थान निश्चित होगये। अफजल ने सोच रखा था कि शिवाजी से मिलते ही वह शिवाजी को कैद कर लेगा, या उनने कोई विरोध किया तो मार डालेगा। वह लम्बा-तडगा मनुष्य था, शिवाजी से कम-से-कम तीन गुणा अधिक शक्तिशाली। शिवाजी जानते थे कि अफ़ज़ल-खा ऐसी कुटिल चाल खेलेगा, इसलिये वह पहले से ही अपने कपडों के नीचे लोहे का बख्तर पहन गये थे। उनके हाथ मे बघनखा नामक एक छोटा-सा शस्त्र छुपा था, जो आकृति मे शेर के नाखूनो-जैसा होता है, और जो इतना ही तेज होता है जितने शेर के नाखून।

भेंट होने पर अफ़जलखा स्नेह-प्रदर्शन के विचार से शिवाजी से लिपट गया। लिपटते ही उसने अपनी कटार शिवाजी की पीठ मे भोंक दी। लेकिन लोहे के बख्तर ने शिवाजी को बचा लिया। इधर शिवाजी ने अपना बघनखा अफजल के पेट में भोंक दिया।

अफजल की हत्या के लिये शिवाजी को अपराधी ठहराना भूल होगी। यह सिद्ध है कि पहला वार अफजल ने ही किया, शिवाजी ने अपना वार आत्मरक्षा के लिये ही किया।

अफ़जल की मृत्यु के पश्चात् बीजापुर-नरेश ने सिद्दीजोहर

नामक एक सरदार के नेतृत्व में एक सेना शिवाजी के दमन के लिए भेजी। शिवाजी ने पन्हाला नामक किले पर कब्जा कर लिया था, पर उसे जोहर ने घेर लिया। वहाँ से बड़ी चतुराई से भागकर वे विशालगढ़ नामक किले में आये जिसे जोहर नहीं जीत सका और उसे भागना पड़ा।

विशालगढ़ में रहकर ही शिवाजी ने बाजी घोरपडे पर, जो उनके पिता की गिरफ्तारी के लिये जिम्मेवार था, आक्रमण किया। घोरपडे को मारने के बाद शिवाजी ने उसका सब खजाना भी लूट लिया।

बीजापुर के राजा को अब मुगलों के डर के अतिरिक्त शिवाजी का भी भारी डर होगया। उसने शिवाजी के पिता को सन्धि के प्रस्ताव के साथ शिवाजी के पास भेजा। शिवाजी तथा शाहजी जैजरी में मिले। शिवाजी ने बीजापुर-नरेश को आश्वासन दिया कि वह हर आक्रमण में उनकी सहायता करेगा। बीजापुर-नरेश ने शिवाजी को उन सब किलों और नगरों का स्वामी स्वीकार किया, जो उनके अधिकार में उस समय थे। पिता के परामर्श पर शिवाजी अपनी राजधानी रायगढ़ में ले आये।

इसके पश्चात् शिवाजी ने अपना ध्यान मुग़लों के दासत्व से मराठों को विमुक्त करने पर केन्द्रित किया।

औरंगज़ेब इधर दिल्ली का सम्राट् बन चुका था और शिवाजी को जीतना चाहता था। उसने दक्षिण के अपने प्रतिनिधि शाइस्ताखां के नेतृत्व में एक बड़ी सेना शिवाजी को पकड़ने के लिये भेजी।

शाइस्ताखां ने आते ही शिवाजी से सब किले और यहाँ तक कि पूना नगर भी जीत लिया। इसी अवसर पर शिवाजी और उनके कुछ साथी बरातियों के वेश में पूना के किले में दाखिल हुए

थे और शाइस्तखां को उनके डर के मारे खिड़की के रास्ते से भागना पड़ा था। इस घटना से कोई और लाभ तो नहीं हुआ, लेकिन शिवाजी की निर्भयता और दबंगपने की छाप उनके शत्रुओं के हृदय पर लग गई।

इस घटना के कुछ महीने बाद शिवाजी ने सूरत पर छापा मारा। यह नगर मुगलो के अधीन था और व्यापारी नगर होने के कारण यहाँ धन प्रचुर मात्रा मे था। शिवाजी के आने का समाचार सुनकर नगर की दो लाख जनता नगर छोड़कर भाग गई। केवल कुछ अंग्रेज और डच व्यापारी रह गये। चार दिन तक शिवाजी की सेना ने सूरत को लूटा। उस समय शिवाजी को धन की आवश्यकता बहुत अधिक थी, सूरत की लूट ने यह आवश्यकता पूरी करदी।

इस लूट के बाद कुछ अंग्रेज शिवाजी को केवल एक लुटेरा कहकर पुकारने लगे थे। परन्तु एक अंग्रेज इतिहास-लेखक ने, जो इस घटना के कुछ वर्ष बाद रायगढ़ के किले में शिवाजी से मिला था, शिवाजी के विषय में लिखा है—

"शिवाजी से मिलने से पूर्व, मैं कल्पना में एक ऐसे खूँखार व्यक्ति को शिवाजी माना करता था जो शैतान के समान दीखने वाले साथियो से, जो नगी तलवार लिये उसकी प्रत्येक आज्ञा को मानने के लिये तत्पर रहते हैं, घिरा बैठा रहता होगा। परन्तु असली शिवाजी को देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। वह एक कुएं के पास बनी पत्थर की बेंच पर अकेले बैठे थे, उनके आस-पास कोई अग-रक्षक नहीं था। वह पनघट पर आई स्त्रियों से बातें कर रहे थे तथा उनसे उनके पतियों, भाइयों और पुत्रों के विषय मे प्रश्न कर रहे थे। उन स्त्रियों के साथ आये बच्चों को वह फल और मिठाइयां दे रहे थे। जीवन मे इतने दयालु और सज्जन आदमी कम ही देखे हैं।

शिवाजी के शत्रु शिवाजी को कुछ ही समझें, परन्तु इसमें कोई सदेह नहीं कि उनकी प्रजा उन्हें अपने पिता के समान मानती है।"

शिवाजी को लड़ाइया लड़ते-लड़ते दस साल बीत चुके थे और इस बीच उनकी सफलताओं के समाचार मुग़ल-सम्राट औरंगजेब को कई बार मिल चुके थे। आख़िर तंग आकर और यह सोचकर कि कहीं शिवाजी अपनी शक्ति इतनी न बढ़ा ले कि मुगल-साम्राज्य के लिये ही ख़तरा बन जाये, औरंगज़ेब ने अपने सबसे योग्य सेनापति जयसिंह को एक बड़ी और सुसज्जित सेना के साथ शिवाजी को परास्त करने के लिये भेजा। जयसिंह की विशाल सेना के सामने शिवाजी की छोटी सेना को पीछे हटना पडा और तीन-चार महीने मे जयसिंह ने शिवाजी के कई क़िले जीत लिये।

हारकर, शिवाजी को जयसिंह के पास सन्धि-प्रस्ताव भेजना पड़ा। इस प्रस्ताव में शिवाजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह बीजापुर के विरुद्ध लड़ने के लिये मुगलों का साथ देने के लिये प्रस्तुत हैं। जयसिंह ने उत्तर में कहला भेजा कि शिवाजी सन्धि औरंगज़ेब से ही कर सकते हैं और इसके लिये उन्हें दिल्ली चलना होगा। शिवाजी दिल्ली जाने के लिये तैयार होगये।

यदि औरंगज़ेब ने शिवाजी को अपना साथी मानकर, उनके साथ बराबरी का और सम्मानपूर्ण व्यवहार किया होता, तो शायद मुगल-साम्राज्य का पतन इतना शीघ्र न होता जितना औरंगजेब के बाद हुआ; नहीं तो कम-से-कम दक्षिण में तो मुग़लों के पाव न उखड़ जाते और औरंगज़ेब को अपने जीवन के अंतिम वर्ष दक्षिण में ही न व्यतीत करने पडते। परन्तु उसके अभद्र और अपमानजनक व्यवहार ने शिवाजी को, जो दिल्ली में सद्भावनाओं के साथ आये थे पुनः उसका कट्टर-शत्रु बना दिया। औरंगज़ेब

शिवाजी की शत्रुता के भावों को भाँप गया और उसने शिवाजी को दिल्ली में नजरबन्द करा दिया। यह नजरबन्दी इतनी कडी थी कि भागने की कल्पना भी करना कठिन था, फिर भी शिवाजी अपनी बुद्धि का प्रयोग करके वहा से भाग आने मे सफल होगये। औरंगजेब दांत पीसता ही रह गया।

दिल्ली से लौट आने के बाद शिवाजी के दो-तीन वर्ष अत्यन्त शातिपूर्वक व्यतीत हुए। बीजापुर के राजा ने, जो शिवाजी का सबसे बडा शत्रु था, शिवाजी से सन्धि कर ली। इन दोनों वर्षों मे यद्यपि शिवाजी ने कोई लडाई नहीं लडी, परन्तु वह अपनी सेना को बढाते रहे और सिपाहियों को शिक्षित करते रहे।

दो वर्षों के बाद औरंगजेब ने पुनः शिवाजी को पकडने का प्रयत्न किया। शिवाजी ने इसे एक चुनौती समझकर खुले-आम मुगल राज्य में लूट-मार करनी और शहरों को जीतना आरम्भ कर दिया। इन लूटों में उन्हें अपार धन मिला। एकबार मुगल-सेना से आमने-सामने लडने का अवसर भी आया। इस बार शिवाजी के सामने मुग़लों को हारकर भागना पडा। इस विजय के बाद दक्षिण-भारत में मुगलों के स्थान पर शिवाजी के नाम की दुंदुभि बजने लगी।

२१ मई १६७४ को रायगढ की गद्दी पर बैठकर शिवाजी ने अपने को 'छत्रपति' घोषित किया।

बनारस के एक बडे पुजारी गागा भट्ट ने उनका राज-तिलक किया। उनको स्वर्ण-मुद्राओ से भी तोला गया और ये मुद्रायें ब्राह्मणों में वितरित की गईं।

राज-तिलक के अगले दिन ही उनके पास बम्बई से अंग्रेजों का एक दूत आया। अँग्रेज व्यापारी राजापुर तथा हुबली स्थित अपनी फैक्टरियों पर शिवाजी द्वारा आक्रमण का हर्जाना चाहते थे। शिवाजी ने

राजपुर की फैक्टरी का हर्जाना १०,००० पगोड़ा दे दिया, पर सूरत के हर्जाने के दावे को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अंग्रेजों को राजापुर, घमोल, चौल और कल्याण में फैक्टरियाँ बनाने की तथा ढाई प्रतिशत कर देकर, अंग्रेजी मुद्राओं द्वारा, अपने राज्य में व्यापार करने की अनुमति प्रदान की।

इसके कुछ दिन बाद ही उनकी माता जीजाबाई का देहान्त हो गया। इस घटना से व्यथित शिवाजी ने शिवनेर, जहाँ उनका जन्म हुआ था, लेने का निश्चय किया। वह अपने राज्य के दक्षिणी भाग में फैली उस विस्तृत-भूमि को जीतकर अपने राज्य को पूर्णतया सुरक्षित रखना चाहते थे। उनको औरंगजेब का निरन्तर भय था और वह अपने राज्य को अधिक-से-अधिक विस्तृत और दृढ़ करना चाहते थे।

अगले छः साल तक शिवाजी दक्षिण में निरन्तर अपने राज्य के विस्तार को बढ़ाते ही रहे। इन वर्षों मे कर्नाटक की विजय उनकी सब से बड़ी विजय थी।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में शिवाजी को अपने पुत्र सम्भाजी के कारण महान् कष्ट पहुँचा। एक महत्वपूर्ण युद्ध में विजय प्राप्त करके, एकबार जब वे पन्हाला पहुँचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि सम्भाजी मुग़ल-सेनापति दिलेरखा से मिल गया है। जब औरंगजेब ने सम्भाजी को दिल्ली बुलाना चाहा,तो वह भागकर शिवा जी के पास आगया। शिवाजी ने उसे पन्हाला में कैद कर दिया।

१६८०ई० में शिवाजी ने बम्बई-स्थित अँग्रेज़ी जहाजों पर आक्रमण किया, क्योंकि अंग्रेज़ मुगलों से मिल गए थे। यह शिवाजी का अन्तिम युद्ध था, क्योंकि २८ मार्च १६८० को इस आक्रमण से लौटने के बाद वह बीमार पड़ गये और ३ अप्रैल को उनका देहान्त होगया।

शिवाजी की सफलताओं का एक बड़ा कारण यह था कि वह

अपने साथियों का चुनाव बड़े यत्न से करते थे, और एकबार चुनाव करके अन्त तक उस व्यक्ति पर विश्वास रखते थे। उनकी परीक्षण-शक्ति इतनी अचूक थी कि उनके किसी भी साथी या अनुयायी ने उन्हें कभी भी धोखा नहीं दिया। शिवाजी के प्रति उन लोगों के मन में असीम श्रद्धा और आदर था और उनके लिए वह सदैव मरने को तैयार रहते थे। शिवाजी भी समय-समय पर उन्हें पुरस्कृत करके तथा उनके साथ युद्ध में सम्मिलित होकर उनकी उत्साह-वृद्धि करते रहते थे।

शिवाजी की महानता इसमें है कि उन्होंने असंगठित और मुर्दा मराठा-जाति को संगठित करके उसमें प्राण फूँके और एक ऐसे सुदृढ़-राज्य को स्थापित किया, जो आने वाली कई शताब्दियों तक हिन्दुओं को स्फूर्ति और प्रेरणा देता रहा। यदि शिवाजी दस-बारह वर्ष भी और जीते रहते तो वह एक ऐसे विशाल हिन्दू-साम्राज्य को स्थापित कर जाते, जिसकी स्पर्धा में कोई भी राज्य या जाति खड़ी नहीं रह सकती थी। भले ही उनकी मृत्यु के बाद उनके द्वारा स्थापित राज्य का स्थायी विस्तार न हो सका, फिर भी हिन्दू-जाति की सोई हुई आत्मा को जगाकर वह एक महान् कार्य कर गये थे। यदि वह इतना न कर जाते तो यह जाति कभी की रसातल को प्राप्त हो गई होती।

महाराजा रणजीतसिंह : ८

मुगल-साम्राज्य के पराभव के बाद अंग्रेजों के आने तक जिन-जिन राजाओं ने हमारे देश के विभिन्न भागों पर शासन किया, उनमें रणजीतसिंह का नाम सबसे अधिक विख्यात है। गोविन्दसिंह ने बिखरी सिक्ख-जाति को संगठित करके उन्हें योद्धा-जाति बनाया था, वैरागी ने इसी सिक्ख-जाति को लड़ना, मरना और जीतना सिखाया। महाराज रणजीतसिंह ने अपनी बुद्धिमत्ता और कुशलता से इसी योद्धा जाति को एक उन्नत राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर दिया। वह सिक्ख-साम्राज्य के प्रथम और अंतिम महाराजा थे,जिन्होंने चालीस वर्षों तक पंजाब पर निःशंक राज्य किया। उनके राज्य का विस्तार काबुल से सतलुज तक था।

कुछ लोगों ने रणजीतसिंह के अभ्युदय और उनकी शीघ्र सफलता से नैपोलियन के उदय और उसकी शीघ्र सफलता की तुलना की है। वास्तव में नैपोलियन और महाराजा रणजीतसिंह कई बातों में एक-दूसरे से मिलते हैं। दोनों ही के राज्य का उनके बाद शीघ्र ही अन्त भी होगया, परन्तु उनके वैभव और अभ्युदय की कहानी प्रायः समान ही है।

पंजाब में आज भी रणजीतसिंह का मान किसी भी आधुनिक राष्ट्रीय नेता से कम नहीं है। घर-घर में उनके चित्र टँगे मिलते हैं और चित्रकार और कवि लोग उनके चित्र बनाने और उनके विषय में कविता लिखते कभी नहीं थकते। देखने में महाराजा स्वरूपवान् नहीं थे, यद्यपि उनके असुन्दर चेहरे पर भी एक प्रकार

का तेज था जो दर्शकों को एकबारगी अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। उनका चेहरा एकबार देखकर भुलाई जानेवाली वस्तु नहीं था। उनकी बाँई आँख जाती रही थी और स्नायु रोग से पीड़ित होने पर भी वह युद्धों में बड़ी वीरता से भाग लेते थे। घोड़ों और घुड़सवारी का उन्हें बड़ा शौक था और प्राय. वह बिना थके, पूरा दिन घोड़े पर बैठे-बैठे ही व्यतीत कर देते थे। तलवार चलाने में उनका मुकाबला करनेवाला उनके समय मे कोई नहीं था।

उनकी पोशाक अत्यन्त सादी रहती थी। भव्य वस्त्रों या आभूषणों का प्रयोग वे विशेष अवसरों पर ही करते थे। दर्शक को तो वह अपने असाधारण तेज से ही विस्मित कर देते थे। कहते हैं कि १८३१ मे एक अंग्रेज़ अफसर ने फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन नाम के व्यक्ति से, जो महाराजा का सलाहकार और वैद्य था, पूछा कि 'महाराजा कौनसी आँख से काने हैं? फकीर ने उत्तर दिया था— 'महाराजा के चेहरे पर ऐसा तेज है कि मैं कभी उनके चेहरे को अच्छी तरह नहीं देख सका।'

भारत के इतिहास में सिक्खों के उदय और उत्थान की कथा एक अपूर्व कथा है। सिक्ख जाति का जन्म एक छोटे धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में गुरु नानक नाम के सन्त द्वारा हुआ था। गुरु नानक का जन्म लाहौर के निकट एक गाव मे हुआ था। बड़े होकर, युवावस्था में ही नानक संसार से विरक्त होगये, और लोगों को धार्मिक उपदेश देने लगे। कबीर की भाति नानक भी सब धर्मों की, और विशेषतया हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के स्वरूपों की समानता और एकता पर बहुत जोर देते थे। कबीर की भाति नानक भी कहते थे—'जो राम है, वही रहीम है। जो काशी में प्राप्त होता है, वही मक्का में भी प्राप्त हो सकता है।'

धीरे-धीरे नानक के धार्मिक शिष्यों और अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। ये लोग नानक को अपना गुरु और अपने को उनका शिष्य (सिख) कहते थे।

अपनी मृत्यु से पूर्व नानक अपना उत्तराधिकारी 'गुरु' चुन गये थे। गुरु नानक के पश्चात् आने वाले चार गुरुओ ने अपना ध्यान शान्तिपूर्ण ढंग से धर्मप्रचार में ही केन्द्रित रखा। चौथे गुरु को अकबर ने अमृतसर नामक झील के निकट कुछ भूमि प्रदान की थी। इस भूमि पर चौथे गुरु ने आश्रम बनाया और उसी आश्रम की स्मृति में अमृतसर का स्वर्ण-मंदिर बना। तब से अमृतसर सिक्खों का पवित्र स्थान है।

पाचवें गुरु अर्जुनसिंह ने 'आदिग्रन्थ' का सम्पादन किया। यह ग्रन्थ पिछले सब गुरुओं की उक्तियों के आधार पर रचा गया था, और यह सिक्खों की 'गीता' बन गई। परन्तु अर्जुनसिंह के शाहज़ादा खुसरू के विद्रोह मे भाग लेने के कारण जहाँगीर उनसे अप्रसन्न होगया और उसने उनका वध करा डाला। इस घटना ने सिक्खों को मुसलमानों का शत्रु बना दिया।

अर्जुन के बाद छटे गुरु हरगोविन्दसिंह बने। जब उन्होंने गुरु की पोशाक पहनी, तब कहा—'अब हमे योद्धाओं की भाति रहना होगा।' क्रमशः सिक्ख लोग मुसलमानो के विरुद्ध लडाइयों में भाग लेने लगे और नवे गुरु तेगबहादुर की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर तो औरंगजेब ने उसे पकड़कर जेल मे डलवा दिया था। एकबार जब तेबगहादुर पर यह अभियोग लगाया गया कि वह जेल की कोठरी से शाही हरम की ओर ताक रहे थे, तो उन्होंने औरंगजेब से कहा था—'मैं तेरे हरम की ओर देख रहा था, जिस दिशा से (पश्चिम से) लोग आकर तेरे हरम और साम्राज्य दोनो को नष्ट कर

देंगें।' आखिर औरंगजेब ने तेगबहादुर को मरवा डाला।

तेगबहादुर के मरने पर गोविन्दसिंह दसवें गुरु बने। गोविन्दसिंह ने सिक्खों को वास्तविक रूप में योद्धा-जाति के रूप में परिणत कर दिया। उन्होंने उनमें ऐसा मन्त्र फूँका, जिससे प्रेरित होकर वे मुगलों के विरुद्ध लड़ने-मरने को तैयार होगये। उन्होंने सिक्खों को पाँच वस्तुओं का अनिवार्य उपयोग करने का आदेश दिया, और उन्हें 'खालसा' की उपाधि से विभूषित किया। गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के पश्चात् वैरागी बन्दा नाम के सिक्ख नेता ने मुसलमानों के विरुद्ध लड़ाई कायम रखी।

मुग़ल-साम्राज्य की पतनोन्मुख अवस्था के समय पंजाब की हालत बड़ी अस्थिर थी। उस पर कभी उत्तर-पश्चिम से अफ़गान आक्रमण करते थे और कभी दक्षिण से मराठे। सिक्ख लोग भी, किसी कुशल नेता के अभाव में, असंगठित होकर बारह मिस्लों (श्रेणियों) में बँट गये थे। उनमें वह अनुशासन तथा आदर्श-पालन की भावना भी नहीं रही थी जो गुरु गोविन्दसिंह के समय विद्यमान् थी। गुरुओं के आदेशों को भूलकर सिक्खों ने विभिन्न व्यसनों का सेवन भी आरम्भ कर दिया था। इन्हीं दिनों रणजीतसिंह का जन्म हुआ।

महाराजा रणजीतसिंह सरदार महासिंह के लड़के थे, जो एक छोटे से राज्य का मुखिया था। उनका जन्म १७८० ई० में हुआ था। उनके पिता मोहनसिंह का जीवन अपने पड़ोसी सरदारों और राजाओं से युद्ध करते बीता। बालक रणजीतसिंह भी इन युद्धों में अपने पिता साथ रहते थे और इस प्रकार बाल्यकाल में ही उन्हें युद्ध-कला का पूरा ज्ञान होगया। जब उनकी आयु दस वर्ष की ही थी, तब उन्हें अपने पिता के साथ एक युद्ध में जाना पड़ा। वह युद्ध एक

मुसलमान सरदार गुलाम मुहम्मद के विरुद्ध हो रहा था। इस युद्ध में बालक रणजीत एक हाथी पर सवार होकर लड़ रहे थे। गुलाम मुहम्मद के चचा हशमतखा ने रणजीत को मारना चाहा, परन्तु ठीक मौक़े पर उनके एक सेवक ने हशमत का वार रोककर रणजीत को मरने से बचा लिया। ऐसे अनेक साहसिक और ख़तरनाक कृत्यों के बीच रणजीतसिंह का बाल्यकाल व्यतीत हुआ।

जब रणजीतसिंह केवल बारह वर्ष के ही थे, तब उनके पिता की मृत्यु होगई। पिता की मृत्यु के बाद, पिता का राज्य एकदम रणजीतसिंह के हाथ में नहीं आ सका। उनकी मा और सास ने राज्य अपने हाथों में रखने के लिये अनेकों षड़यन्त्र रचे। रणजीत को इन दोनों स्त्रियों के आदेशानुसार ही चलना पड़ता था। धीरे-धीरे उनका अनुभव बढ़ता गया और उन्होंने उनके चगुल से अपने को छुड़ा-कर अपना ध्यान अन्य सिक्ख-सरदारों की भांति युद्ध करने और राज्य विस्तार बढ़ाने मे लगाया।

यद्यपि रणजीतसिंह को उनकी मां और सास की लापरवाही के कारण शिक्षा नहीं मिल सकी थी, फिर भी उनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर और कुशाग्र थी। साथ ही बचपन से ही युद्धों में भाग लेने के कारण उनका स्वास्थ्य बड़ा अच्छा बन गया था और वह अत्यन्त कुशल योद्धा हो गये थे। निर्भयता और साहस यह दो गुण भी उन्होंने नवयुवावस्था मे प्राप्त कर लिये थे। इन्हीं के बल पर अपनी पहली टक्कर शाह जमन जैसे शक्तिशाली लुटेरे योद्धा से लेकर उसे परास्त करने में सफल हो सके।

शाह जमन सुप्रसिद्ध लुटेरे योद्धा अहमदशाह का, जिसने कई बार भारत पर आक्रमण किया था, पोता था। १७९७ ई० मे उसने लाहौर पर आसानी से कब्ज़ा कर लिया था। उस समय सिक्खों ने

जमन का कोई विरोध नहीं किया था, बल्कि उल्टे उसके दरबार मे आकर उसकी आधीनता स्वीकार कर ली थी। रणजीतसिंह ने, जमन के लाहौर में रहने के काल तक सतलज के दक्षिणी इलाके को खूब लूटा और जब जमन को अफगानिस्तान जाना पडा, तो वहां से लाहौर की ओर रवाना हुए।

रास्ते में झेलम पार करते समय रणजीतसिंह की मुठभेड जमन से हुई। इस मुठभेड मे संयोगवश जमन की १२ तोपें रणजीतसिंह के हाथ पड़ गई। जमन ने रणजीतसिंह को कहला भेजा कि यदि वह तोपें लौटा देंगे, तो वह बदले में उन्हें लाहौर शहर और ज़िला दे देगा, और राजा की उपाधि भी। रणजीतसिंह ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और ८ तोपें जमन को लौटाकर एक बडी सेना के साथ लाहौर पर अपना कब्ज़ा कर लिया। सन् १७९९ ई० मे राजा की उपाधि से विभूषित होकर और लाहौर का स्वामी बनकर रणजीतसिंह ने अपने एक पुराने स्वप्न को सत्य सिद्ध कर लिया, क्योंकि लाहौर पर राज्य करने की इच्छा उन दिनों प्रत्येक सिक्ख सरदार को रहती थी।

रणजीतसिंह के लाहौर का राजा होते ही अन्य सिक्ख सरदार उनसे ईर्ष्या करने लगे, और गुटबन्दी करके उन्हें लाहौर से हटाने का षड्यंत्र करने लगे। उन्होंने भासिन नामक स्थान पर सरदारों की एक सभा घोषित की और रणजीतसिंह को भी उसमे आमंत्रित किया। पहले से ही तय कर लिया गया था कि रणजीतसिंह के सभा मे आते ही उनका वध कर दिया जायगा। परन्तु रणजीतसिंह पहले से ही सावधान थे, और एक बडी सेना लेकर भासिन गये। भयभीत सरदार वध करने मे असफल रहे।

सरदारों के षड्यंत्र को जानकर वापिस लाहौर लौटकर रणजीत-सिंह ने उन्हें नीचा दिखाने का निश्चय किया। इन सरदारों का

मुख्य केन्द्र अमृतसर था। रणजीतसिंह ने प्रसिद्ध 'ज़मज़म तोप' जो आज कल लाहौर के अजायबघर के सामने खड़ी है लेने का बहाना करके अमृतसर पर आक्रमण किया और उसे जीतकर सब सरदारों को वहाँ से मार भगाया। अमृतसर पर कब्जा करने से रणजीतसिंह का नाम और प्रभुत्व और भी बढ़ गया। वह सिक्खों के दो प्रसिद्ध नगरों, लाहौर और अमृतसर, के स्वामी बन गये थे।

सन् १८१६ ई० में उन्होंने अमृतसर, जालन्धर, और गुरुदासपुर का सारा इलाका और उसमे स्थित एक सौ के करीब छोटे किले भी जीत लिये। अब पंजाब मे उनका प्रतिद्वन्द्वी केवल एक ही था, वह थी उनकी सासु माई सदाकौर जो बटाला तथा उसके आसपास की भूमि की स्वामिनी थी।

महाराजा रणजीतसिंह ने कई बार माई सदाकौर को सलाह दी थी कि वह राजनीति त्याग करके सन्यास ले ले, परन्तु सदाकौर को यह स्वीकार न था। उसे हुकूमत पसन्द थी। महाराजा ने उसे लाहौर के पास शाहदरा में नज़रबन्द करा दिया, लेकिन वह निकल भागी और बटाला पहुँचकर उसने अंग्रेज़ों से रणजीतसिंह के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की। महाराजा को जब इन बातो का पता चला तो उन्होंने सदाकौर को पकड़वा भेजा और फिर राजनीति से कोई संबंध न रखने को कहा। जब सदाकौर ने दुबारा इस प्रस्ताव को न माना तो रणजीतसिंह ने उसे कैद करा दिया, यहाँ कुछ समय बाद उसकी मृत्यु होगई। उसकी मृत्यु के बाद बटाला का राज्य भी रणजीतसिंह को मिल गया, जिसे उन्होंने सदाकौर के एक लड़के शेरसिंह को जागीर के रूप में सौंप दिया।

जिस समय रणजीतसिंह पंजाब मे अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे, ठीक उसी समय अंग्रेज़ी-राज्य हिन्दुस्तान में तीव्र गति से

फैलता जा रहा था। हिन्दुस्तान के नक्शे पर लाल रंग फैलता जा रहा था और एकबार रणजीतसिंह ने ठीक ही भविष्यवाणी की थी कि शीघ्र ही सारा हिन्दुस्तान लाल होजायगा। मराठों को परास्त करके सन् १८०३ ई० में जनरल लेक दिल्ली को ले चुका था। सिरसा, रोहतक, हिसार, दिल्ली और आगरा अंग्रेजों के पास जा चुके थे।

सन् १८०४ ई० में मराठों के प्रधान जसवन्तराव होल्कर ने फिर दिल्ली पर अंग्रेजों के विरुद्ध चढाई की परन्तु हारकर उसे पंजाब भागना पड़ा। वहाँ उसने पटियाला तथा अन्य रियासतों के राजाओं से मदद माँगी, परन्तु अंग्रेजों के डर के मारे कोई तैयार न हुआ। सन् १८०५ ई० मे लेक के आक्रमण के फलस्वरूप पीछे हटकर होल्कर, रणजीतसिंह के पास पहुँचा और उनसे अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने के लिये सहायता माँगी। महाराजा इस प्रस्ताव पर विचार कर ही रहे थे कि अंग्रेजों ने होल्कर और रणजीतसिंह दोनो से सन्धि कर ली। पहली जनवरी सन् १८०६ ई० को हुई इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने महाराजा को आश्वासन दिया कि जबतक महाराजा होल्कर से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं रखेंगे, तबतक अंग्रेज उनके राज्य की सीमा मे प्रवेश नहीं करेंगे और संकट के समय उनकी सहायता करेंगे।

सन्धि की शर्त को स्वीकार करके और अंग्रेजों की ओर से पूर्णतया निश्चिन्त होकर महाराजा ने पश्चिम की ओर अपना राज्य-विस्तार बढ़ाने की योजना बनाई। सतलज की ओर की छोटी-छोटी सिक्ख रियासतों की अवस्था भी असन्तोषजनक थी। अपने चचा, झीन्द के राजा भगतसिंह के कहने पर रणजीतसिंह एक बड़ी सेना लेकर सतलज पार करके लुधियाना और आसपास के प्रदेश को जीतने

चले। अंग्रेज़ों ने इस डर से कि कहीं वह उनकी सीमा में प्रवेश न कर ले, करनाल में एक फ़ौज एकत्रित की, लेकिन रणजीतसिंह ने अंग्रेजों के राज्य में प्रवेश नहीं किया। दो ज़िले जीतकर उन्होंने अपने मित्रों को इनाम में दे दिये।

एक साल बाद उन्होने नारायणगढ़, वदनी, मौरिन्डा, जीरा आदि स्थान जीतकर फिर अपने मित्रों को दे दिये। महाराजा का स्वप्न सतलज के पश्चिम की सब रियासतों, अम्बाला, फरीद-कोट, पटियाला को जीतकर सब सिक्ख रियासतो का स्वामी बनने का था। इस प्रकार वह एक सुसगठित सिक्ख राज्य की स्थापना करना चाहते थे, जो अंग्रेज़ों से टक्कर ले सके। अंग्रेज़ यद्यपि उन दिनों कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक के प्रदेश के स्वामी थे, फिर भी उन्हे अफ़गानो और नैपोलियन के भारत पर आक्रमण करने का भारी भय था। उन्होंने रणजीतसिंह के पास एक राजदूत भेजकर यह जानना चाहा कि यदि फ्रास या अफगानो ने अंग्रेज़ों पर आक्रमण किया तो क्या वह अंग्रेजों को सहायता देंगे? महाराजा ने सहायता इस शर्त पर देनी स्वीकार की कि बदले में उन्हें अंग्रेज़ सतलज से दिल्ली तक की सब सिक्ख-रियासतों का राजा स्वीकार कर लें। अंग्रेज़ महा-राजा की इस शर्त को स्वीकार करने के लिये राज़ी थे परन्तु कुछ सिक्ख सरदारों ने जो महाराजा से ईर्ष्या रखते थे, उन्हें ऐसा करने से रोका और रणजीतसिंह की—अपनी ही जाति के राजा की—आधीनता मे रहने की अपेक्षा अंग्रेजों की आधीनता में रहना बेहतर समझा। परिस्थिति की गम्भीरता को समझकर और सिक्ख-सरदारों की कुमति को कोसते हुए, महाराजा ने दूरदर्शिता इसी मे समझी कि अंग्रेज़ों के साथ सम्बन्ध ख़राब न किये जायें और सतलज तक ही अपने राज्य की सीमा रखने का आश्वासन उन्हे दे दिया। पूर्व से ध्यान हटाकर

अब उन्होंने मुल्तान, काश्मीर, पेशावर, डेराजाट आदि प्रदेशों को अपने राज्य में शामिल करने का विचार किया।

महाराजा के काल में मुल्तान का नवाब मुजफ्फरखान था। १८०६ मे झंग को जीतने के बाद महाराजा ने मुल्तान पर भी चढ़ाई करने का विचार किया था, परन्तु नवाब लडाई नहीं करना चाहता था इसलिये उसने ७०,०००) रु० महाराजा को भेंट करके उन्हें विदा कर दिया था। अगले वर्ष फिर महाराजा ने मुल्तान पर आक्रमण किया लेकिन लडाई के बीच फिर नवाब ने एक बडी रकम महाराजा को भेंट करके उन्हें विदा कर दिया। दो-तीन बार इसी प्रकार लम्बी रकमें ले लेकर लौट आने के बाद अन्त में महाराजा ने मुल्तान के किले को जीतने का पूर्ण निश्चय ही कर लिया। १८१८ ई० मे १८,००० सैनिकों की एक सेना मुल्तान को जीतने के लिये भेजी गई। यद्यपि नवाब के पास केवल २००० ही सैनिक थे फिर भी उसने बडी वीरता से सिक्खों का मुकाबला किया परन्तु उसे हारना पडा। मुल्तान को जीतने के बाद महाराजा को अपार धन-राशि प्राप्त हुई।

मुल्तान लेने के बाद महाराजा ने काश्मीर लेने का विचार किया। १८११ ई० में सिक्ख भीमवाड और राजौरी के मुसलमान राजाओं को हरा-कर एक वर्ष में कुल्लु तक पहुँच गये। कुल्लु पहुँचने पर महाराजा को काबुल के एक मन्त्री फतहखा से जो सिन्ध पार करके काश्मीर जीतने के इरादे से बढ़ा चला आ रहा था, अस्थायी सन्धि करनी पडी। इस सन्धि में यह तय हुआ कि काश्मीर जीतने के बाद जीत का तिहाई भाग सिक्खों को मिलेगा और एक तिहाई फतहखा को। फतहखा सन्धि करके पहाडी के एक गुप्त-मार्ग से शेरगढ़ और हरि पर्वत पहुँच गया और वहा के सरदार को कैद करके वहा का स्वामी बन बैठा। यद्यपि सिक्ख भी जीत के समय वहाँ पहुँच गये थे, फिर

भी फतहखा ने तिहाई लूट का भाग सिक्खो का देने से इन्कार कर दिया। तब महाराजा ने काबुल के शाह को, जो काश्मीर में कैद था, लाहौर लाकर अटक का किला अपने कब्जे में कर लिया। फतहखा को तब अटक की रक्षा के लिये महाराजा के विरुद्ध आना पड़ा। इसी प्रकार अनेक छोटी-बडी लडाइया लडने के बाद १८१६ में सम्पूर्ण काश्मीर प्रान्त महाराजा के अधिकार मे आया।

कॉगड़ा और उसके आसपास के पहाड़ी जिलों को महाराजा ने १८०६ में ही जीत लिया था। काश्मीर लेने के बाद शेष रियासतें और मुसलमानी-राज्य भी उनके अधिकार मे आगये।

काश्मीर और पेशावर के बीच के छोटे-छोटे राज्य मुसलमान सरदारों के हाथ में थे। यह सरदार व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त शक्तिशाली थे, परन्तु असंगठित होने के कारण वह पराक्रमी और विशाल सिक्ख-सेना को परास्त करने में असमर्थ रहते थे। १८२०ई० तक एक-एक करके सभी मुसलमान सरदारों को जीतकर महाराजा सारे पंजाब के स्वामी बन गये। उनका राज्य सतलुज से सिंध तक था। १८२३ ई० तक पेशावर नगर और प्रान्त भी महाराजा के अधिकार में आगया।

पेशावर और हजारा जिलों को जीतने में महाराजा को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडा। अफ़गान लोग 'जिहाद' के नशे में मत्त होकर सिक्खों से लड़ते थे। सिक्खों को उनकी भाति पहाड़ियों के रास्तों का ज्ञान भी न था। कभी-कभी सेना को रसद तथा अस्त्र-शस्त्र पहुँचाना तक दुष्कर हो जाता था। फिर भी सिक्खों में सरदार हरिसिंह नलवा जैसे बलशाली सरदार थे। सरदार हरिसिंह ने पेशावर और हज़ारा के कई युद्धों में अफ़ग़ानों के छक्के छुड़ा दिये थे। अफ़ग़ानों में उसका आतंक फैल गया था और अफ़ग़ानी माताएँ उसका नाम ले-लेकर बच्चों को डराकर सुलाया करती थीं। सर-

दार नलवा वर्षों तक पेशावर मे महाराजा के प्रतिनिधि और सेनापति बनकर रहे और १८३६ ई० मे उन्होंने खैबर की घाटी के पास स्थित जमरूद नामक स्थान में एक किला बनवाया, जहाँ उनका इरादा ऐसी शक्तिशाली सेना रखने का था, जो घाटी के दूसरी ओर से आने वाली कितनी भी बडी सेना को हिन्दुस्तान मे प्रवेश करने से रोक सके। इसी किले की रक्षा करते-करते १९३७ ई० में उनका देहान्त हुआ।

यद्यपि इन दिनों महाराजा के राज्य का विस्तार खैबर से लेकर सतलज तक था और सारा पंजाब उनके अधीन था, फिर भी जगह-जगह विद्रोह होते रहते थे। इन उपद्रवों तथा अन्य अशान्तियों के कारण महाराजा का स्वास्थ्य खराब रहने लगा। १९३८ मे उन्हें स्नायु रोग होगया और यदि वह तब भी शराब पीना छोड़ देते तो शायद यह रोग शीघ्र ही उनका पीछा छोड देता, परन्तु उन्होंने शराब नहीं छोडी और इसी रोग ने उनकी जान ले ली। कई अँग्रेजी डाक्टरो ने उनका विद्युत् तथा अन्य प्रणालियों से इलाज किया पर रोग की जडें बहुत गहरी चली गई थीं और कोई लाभ न हो सका।

मरने से पूर्व उन्होंने २५ लाख रुपया गरीबों और ननकाना के पुरोहितों में बँटवाया और खडकसिंह को जो उनका एकमात्र पुत्र था अपना उत्तराधिकारी और ध्यानसिंह को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया। २७ जून १८३९ ई० को उनकी मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के छः साल बाद ही उनके साम्राज्य का अन्त होगया। सिक्ख सरदारों की आपस की ईर्ष्या ने इतने श्रम और चतुराई से स्थापित किए महान् राज्य का अन्त इतने अल्प समय मे कर दिया। उनके लडके, पोते तथा स्वामि-भक्त सरदारों का बडी क्रूरता से वध कर दिया गया, परन्तु जिन अदूरदर्शी लोगों ने यह कुकर्म किये थे उनकी स्वार्थसिद्धि भी न हो सकी।

उन्हें भी अँग्रेजों की गुलामी स्वीकार करके अपने राज्य का पतन अपने ही हाथों करके, अपनी ही आँखों से देखने को विवश होना पड़ा।

महाराजा एक वार जिस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा कर लेते थे, उसे किसी भी कीमत पर लेने के लिये तैयार रहते थे। कोहिनूर हीरा, प्रसिद्ध घोडी लाली और मुल्तान नगर पर कब्जा, इसके तीन उदाहरण हैं।

कोहिनूर हीरे का इतिहास विचित्र है। कहा जाता है कि यह प्रसिद्ध हीरा पहले पाडवों के पास था। सोलहवीं शताब्दि में यह शाहजहाँ और औरंगजेब के पास आया। वाद मे दिल्ली को लूटने के वाद नादिरशाह इसे काबुल ले गया। १८१३ में यह काबुल के भूतपूर्व शाह, शाहशुजा के पास था। शाह को उसके भाई ने काबुल से निकाल दिया और वह पंजाब में निर्वासितों की भाति रह रहा था। कोहिनूर की प्राप्ति के लिये महाराजा ने शाह को लाहौर में आश्रय दिया। और वाद में उसे काफी परेशान करके उससे हीरा छीन लिया। यह हीरा महाराजा को मुफ्त ही में मिल गया। इसीलिये कथा है कि जब महाराजा से किसी ने कोहिनूर की कीमत पूछी तो उन्होंने कहा—'दो जती' अर्थात् साहस और बल।

अफग़ानिस्तान के सरदार यार मुहम्मद खाँ के पास लाली नाम की एक घोड़ी थी जो अपनी सुन्दरता के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। उसकी प्रशंसा सुनकर महाराज ने खाँ से घोड़ी माँगी पर खाँ ने इन्कार कर दिया। इस पर महाराजा ने अपने एक योग्य सेनापति बुधसिंह को खाँ से घोड़ी छीन लाने के लिये भेजा। बुधसिंह अपने शत्रुओं को परास्त करके जब पेशावर में घुसा तो उसे सूचना मिली कि लाली की मृत्यु हो गयी है। वह निराश हो वापिस लाहौर लौटा,

परन्तु उसे पता चला कि लाली के मरने का समाचार गलत है। तब उन्होंने युवराज खड्‌कसिंह की अधीनता में एक विशाल सेना फिर पेशावर भेजी।

यारमुहम्मद खाँ सिख-सेना के आने से पूर्व ही घोडी लेकर पहाड़ियों मे भाग गया। खड्‌कसिंह ने आठ महीने तक पेशावर मे रहकर उसकी बाट देखी। बाद मे वह सुल्तान मुहम्मदखाँ को पेशावर का शासक बनाकर लौट आया। उसके लौटते ही यारमुहम्मद खाँ ने सुल्तान को हराकर पेशावर फिर अपने हाथ मे ले लिया। तब महाराजा ने कटक-स्थित अपने सेनापति वैनतुरा को खाँ से लड़ने और उससे घोडी प्राप्त करने के लिये आदेश दिया। वैनतुरा ने कई युद्धों के पश्चात लाली को प्राप्त किया और लाहौर मे महाराज के पास भिजवा दिया। लाली को प्राप्त करने मे बारह लाख रुपये और १२,००० सैनिकों की बलि देनी पडी थी। ससार के इतिहास मे यूनान के ट्राय वाले घोडे के बाद लाली ही ऐसी घोडी थी जिसके पीछे इतनी मारकाट और जन-धन का बलिदान हुआ।

घोडियों के अतिरिक्त महाराज को तोपों के संग्रह का भी भारी शौक था। जनरल मेटकाफ के कथनानुसार तोपों का चाव और उनकी पहचान महाराजा को इतनी जबरदस्त थी कि वह तोप प्राप्त करने का कोई अवसर कभी नहीं चूकते थे। जब जब उन्हें यह मालूम हुआ कि अमुक किले मे कोई तोप है, तब-तब उन्होंने उसे लेकर ही छोड़ा।

महाराजा रणजीतसिंह न तो गुरु नानक की भाँति धार्मिक-वृत्ति के थे और न गुरु गोविन्दसिंह की भाँति शिक्षित और उच्चादर्शों का पालन करने वाले थे। उनका ध्येय एक ही था; सिक्ख-राज्य का प्रसार। उनकी सारी युक्ति, बुद्धि और बल सदैव इसी ध्येय-पूर्ति मे

लगे रहे। अपने धर्म के प्रति पक्षपात नहीं था। उनके दरबार में कई ब्राह्मण और मुसलमान उच्चपदों पर थे। वह आदमी और उसकी योग्यता को पहले देखते थे, उसकी जाति को बाद में।

महाराजा से पहले सिक्ख-सैनिक पैदल सेना में भरती होना अपनी शान के खिलाफ समझते थे और घुड़सवारी पल्टन में ही भरती होते थे। साथ ही उनमें फौजी अनुशासन को मानने की वृत्ति नहीं थी, और तनिक से मतभेद पर वह एक सरदार की सेना छोड़कर दूसरे सरदार की सेना में शामिल हो जाते थे। सिक्ख-सेना की व्यवस्था सुधारने के हेतु ही महाराजा ने अंग्रेजी और अफ़गानी-सेना के सञ्चालन का गौर से अध्ययन किया और कई विदेशी जनरलों, (जिनमें इटालियन जनरल वैनतुरा, फ्रांसीसी जनरल ऐलर्ड प्रमुख थे) को सिक्ख-सैनिकों को नवीनतम प्रणाली से सैन्य-शिक्षा देने के लिये नियुक्त किया। जनरल वैनतुरा ने फौज-खास का निर्माण किया, जिसकी सहायता से महाराजा को पेशावर तथा अन्य पहाड़ी इलाके मिले।

इन जनरलों की शिक्षा के कारण सिक्ख पैदल-सेना अत्यन्त शक्तिशाली बन गई और आज भी संसार में सिक्खों के समान वीर और कुशल पैदल सैनिक बहुत कम राष्ट्रों में हैं।

अपने शासन-काल में महाराजा ने सिक्ख-सेना का कभी-कभी अमहत्वपूर्ण कार्यों के लिये भी प्रयोग किया, और केवल अपना एक चाव पूरा करने के लिए अपार धन-जन की बलि दे दी, लेकिन उनकी विशिष्टता इसमें थी कि उन्होंने सैनिक-दृष्टि से अशिक्षित सिक्खों को शिक्षित सैनिक बना दिया। केवल अपनी एक इसी विशिष्टता के कारण सिक्ख सदैव उनके ऋणी रहेंगे।

उनकी मृत्यु के बाद खालसा-जाति के उच्चाधिकारी एकदम

बिखर गये। उनमें एकता और सिक्ख-जाति को एकसूत्र में बांधे रखने की भावना न रही। वह समय अंग्रेजों के लिये भी संकट का काल था। काबुल से लौटते समय उनकी पराजय हो चुकी थी और अंग्रेजी-सेना को पूरी तरह विनष्ट कर दिया गया था। १८४५ ई० में सन्धि को रद्द कर सिक्खों ने सतलज पार करके अंग्रेज़ों द्वारा अधिकृत भूमि पर आक्रमण किया। चार बार हारकर, अन्त मे उन्होंने सन्धि कर ली पर यह सन्धि भी अधिक समय तक न रही। चनाब नदी के किनारे गुजरात प्रदेश में लार्ड डलहौजी ने सिक्खों के साथ जो युद्ध किया, वह अपनी विशालता और भीषणता के कारण ब्रिटिश-भारत के इतिहास में अद्वितीय है। इस युद्ध में सिक्खों को बुरी तरह हारना पड़ा और आत्मसमर्पण करने को विवश होना पड़ा। इसके बाद फिर सिक्खों की सिर उठाने की हिम्मत नहीं हुई।

यदि सिक्ख रणजीतसिंह द्वारा, स्थापित साम्राज्य की सावधानी से रक्षा करते रहते तो यह सम्भव था कि सिपाही-विद्रोह के अवसर पर वे अंग्रेज़ों को भारत से निकालने में सफल हो जाते।

भारत के इतिहास में वीर और आदर्श नारियों की कथाओं की कमी नहीं है। परन्तु इनमें से अधिकांश नारियाँ ऐसी थीं, जिन्होंने वीरता और साहस के साथ अपने परिजनों को युद्ध में भेजा और पति की मृत्यु हो जाने पर या शत्रु द्वारा घिर जाने पर सती होगईं। स्वयं युद्ध करके रणभूमि में काम आने के उदाहरण कम हैं।

इन भारतीय आदर्श नारियों के बीच महारानी लक्ष्मीबाई का नाम एक ज्वलन्त सितारे के समान प्रकाशित है। महारानी ने किसी भी वीरपुरुष की भाँति अपने देश और जाति के लिए घोर युद्ध करके रणभूमि में अपने प्राण दिये। इनका जीवन भारतीय महिलाओं और पुरुषों दोनों के सम्मुख एक नया आदर्श उपस्थित करता है।

महारानी लक्ष्मीबाई का जन्म १६ नवम्बर १८३५ ई० में काशी में हुआ था। उनके पिता मोरोपन्त ब्राह्मण थे और सतारा ज़िले के रहने वाले थे। काशी आने से पूर्व वह बाजीराव पेशवा के भाई चिमाजी के कृपापात्र थे, परन्तु जब लक्ष्मीबाई का (बचपन का नाम मनु था, लक्ष्मी नाम उनके पति का रखा हुआ था) जन्म हुआ था तब उनकी अवस्था असन्तोषजनक थी।

जब मनु की आयु तीन-चार साल की ही थी, तब उसकी मा भगीरथी का देहान्त होगया और उसके पिता बिठूर नामक स्थान में आकर रहने लगे। बालिका मनु का लालन-पालन उसके पिता ने ही किया। उसके खेल-कूद के साथियों में द्वितीय बाजीराव पेशवा के दत्तक

पुत्र नाना साहब और राव साहब थे । स्वयं बाजीराव उसे अत्यन्त प्यार करते थे और 'छबीली' कहकर पुकारते थे। उन्होंने उसे अपने पुत्रों के समान ही अस्त्र-शस्त्र चलाने, घोडे पर सवारी करने तथा पढ़ने-लिखने की शिक्षा दी। युद्ध-कला में मनु विशेष रूप से प्रवीण होगई।

जब मनु की अवस्था विवाह योग्य हुई तो एक ज्योतिषी ने मोरोपन्त से कहा था कि उनकी पुत्री का विवाह किसी राजा से होगा और स्वयं वह भी राज्य करेगी। बेचारे मोरोपन्त को इस भविष्यवाणी के सत्य होने की तनिक भी आशा न था, परन्तु भविष्यवाणी सच्ची ही निकली और १८४२ ई० में मनु का विवाह झाँसी के राजा गंगाधर राव के साथ सम्पन्न हुआ।

तत्कालीन झाँसी राज्य की स्थापना पेशवाओं ने १७४२ ई० में की थी। उन्होंने इस राज्य में टेहरी राज्य का आधा भाग तथा दतिया राज्य का चौथाई भाग सम्मिलित किया था । यह दोनों छोटे राज्य पहले ओरछा राज्य के अन्तर्गत थे। झाँसी नगर की स्थापना एक मराठा सूबेदार तारोशंकर ने की थी। झाँसी किले की स्थापना इससे पूर्व १६१० ई० में वीरसिंहदेव द्वारा हो चुकी थी।

पेशवाओं के समय में झाँसी का शासक उनके द्वारा नियुक्त मराठा सूबेदार होता था। १८१८ में पेशवाई का अन्त हो जाने के बाद और बाजीराव द्वितीय के स्वयं को अंग्रेजों को समर्पण कर देने के पश्चात् झाँसी अंग्रेजों के हाथ में आगया।

लक्ष्मीबाई का पति गंगाधरराव अन्तिम सूबेदार था।

गंगाधरराव को झाँसी का राज्य अँग्रेजों के कहने पर मिला था। अँग्रेजों की एक शर्त के अनुसार उन्हें अंग्रेजी-फौज अपने खर्चे से झाँसी में रखनी पड़ती थी । गंगाधरराव एक कुशल और [illegible]

शासक थे। उनके शासन से अंग्रेज और पेशवा दोनों प्रसन्न थे। लक्ष्मीबाई भी ऐसा योग्य और उत्तम पति पाकर प्रसन्न थीं।

१८५१ ई० में लक्ष्मीबाई ने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म से गंगाधरराव तथा प्रजा दोनों को ही महान् आनन्द हुआ। पर जब तीन महीने के बाद ही पुत्र की मृत्यु होगई, तब गंगाधरराव को गहरा धक्का पहुँचा। वे शय्या पर पड़ गए। दिन-पर-दिन उनका रोग बढ़ता ही गया और उनके बचने की कोई आशा न रही।

मृत्यु अवश्यम्भावी देखकर उन्होंने अंग्रेज पोलिटिकल एजेन्ट के सामने आनन्दराव नाम के एक बालक को गोद ले लिया, ताकि उन के बाद उनके वंश का अन्त न होजाए। उन्होंने एजेन्ट से यह भी प्रार्थना की कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी पत्नी लक्ष्मीबाई को झाँसी की रानी माना जाए और उनके बाद इस दत्तक पुत्र को गद्दी मिले।

१८५३ ई० की २१ नवम्बर को गंगाधरराव की मृत्यु होगई और १८ साल की अल्पायु में ही लक्ष्मीबाई को वैधव्यावस्था का दु.ख भोगना पड़ा। इस दुःख के साथ-ही-साथ उन्हें एक दुःख और सहन करना पड़ा। पति की मृत्यु के बाद अँग्रेजों ने गंगाधरराव की प्रार्थना की उपेक्षा करके झाँसी के किले और खजाने को अपने कब्जे में कर लिया। कुछ दिन बाद महारानी को यह आज्ञा मिली कि झाँसी ब्रिटिश-राज्य में शामिल कर लिया गया है और अब उस पर महा-रानी या उनके दत्तक पुत्र का कोई अधिकार नहीं रहेगा। पैन्शन के तौर पर उन्हें ५०००) रु० सालाना मिल जाया करेंगे।

पुनः झाँसी के राज्य की बागडोर हाथ में लेने पर रानी ने एक साल आठ दिन तक वहाँ शासन किया। इस अवधि में निम्न मुख्य घटनाएँ घटीं।

१. ६ जून १८५७ से ४ अप्रैल १८५८ तक ह्यूरोज से संघर्ष और किले की रक्षा।

२. ५ अप्रैल १८५८ से २३ मई १८५८ तक झाँसी से भागकर बुन्देलखंड में ह्यूरोज से लड़ाई।

३. १ जून को ग्वालियर के किले की जीत और उसकी रक्षार्थ संघर्ष। और अन्त में इसी संघर्ष में मृत्यु।

विस्तार में यह घटना-क्रम इस प्रकार था—

१८५४ ई० में झांसी में पूरी तरह अंग्रेजी-राज्य स्थापित हो चुका था। अंग्रेज कलैक्टर, अंग्रेज जज और अंग्रेज पुलिस अधिकारी। झांसी राज्य बहुत छोटा था, और ७०० गांवोंवाले उस राज्य की वार्षिक आमदनी साढ़े सात लाख रुपये से अधिक नहीं थी। लक्ष्मीबाई को ५००० रु० वार्षिक पेन्शन मिलने लगी। इस राशि में से उन्हें सारे महल के खर्चे चलाने पड़ते थे तथा अपने मृत पति का कर्जा भी निपटाना पड़ता था। उन्होंने कई बार अंग्रेज अधिकारियों के आदेश के विरुद्ध प्रार्थनापत्र भेजे, पर उनका कोई फल न निकला। उन्होंने श्री उमेशचन्द्र बनर्जी तथा एक अंग्रेज वकील जान लैंग को इंग्लैंड भी भेजा, पर कम्पनी के मालिकों ने अनेक बार उनकी प्रार्थनाओं को अस्वीकृत कर दिया।

जान लैंग ने एक स्थल पर महल में रानी से भेंट का वर्णन किया है। वह लिखता है—" उनका कद मध्यम था। वह खूब स्वस्थ दीखती थीं परन्तु आवश्यकता से अधिक स्वस्थ नहीं। उनको देखने से ही ज्ञात हो जाता था कि अपनी नवयुवावस्था में वह अवश्य सुन्दरी रही होंगी, उस समय भी उनके चहरे पर विविध सौन्दर्य के चिन्ह अंकित थे। उनका चेहरा गोल था। उनकी मुखमुद्रा से उनकी आँखें असाधारण रूप से सुन्दर थीं और नाक भी सुगठित थी

बातों-बातों में उन्होंने कई बार कहा—"मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी।"

भारतीय सेना भंग होने के बाद, लक्ष्मीबाई राजमहल में अपने दत्तक पुत्र के साथ पूजापाठ करके अपना समय व्यतीत करने लगी।

सन् १८५५ और १८५६ इसी प्रकार व्यतीत हुए।

१८ मई १८५७ ई० को मेरठ और दिल्ली में सिपाही-विद्रोह आरम्भ होगया। ५ जून को झांसी में भी भारतीय सैनिकों ने, जो अंग्रेज़ों के अधीन थे, विद्रोह आरम्भ कर दिया और ७ जून तक झासी के सारे अंग्रेजों का सफाया कर दिया गया। वहाँ के विद्रोहियों का नेता हवलदार गुरुबख्श था। उसने झासी के किले पर अधिकार कर उसे फिर स्वतन्त्र कर दिया।

झासी स्वतन्त्र करके विद्रोहियों ने दिल्ली जाने की ठानी। जाने का खर्च मागने के लिये जब वह महारानी के पास गये तो महारानी ने एक लाख रुपये की कीमत के अपने आभूषण उन्हें दे दिये।

उन दिनों झासी के सिपाहियों का नारा था, "खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का, अलम महारानी लक्ष्मीबाई का।" किले पर से अंग्रेजी-सेना के हट जाने के बाद झासी का शासन भार महारानी ने अपने हाथों में ले लिया था।

परन्तु शासन करते कुछ ही दिन बीते होंगे कि सदाशिव नाम का एक व्यक्ति अपने को झासी का शासक बताकर झासी में प्रवेश करने लगा। महारानी ने उसे हराकर खदेड़ दिया। एक बार फिर इस व्यक्ति ने झासी पर आक्रमण किया किन्तु दुबारा भी उसे मुँह की खानी पड़ी। ओड़छा-राज्य का दीवान भी झासी पर आँख लगाये बैठा था। महारानी के गद्दी पर बैठते ही वह साठ हजार की सेना को लेकर महारानी से लड़ने आया। उसने किले को चारों ओर से घेर लिया था परन्तु इस युद्ध में स्वयं महारानी ने मर्दाने कपड़े पहन

कर युद्ध-संचालन किया और दो दिन के भीषण युद्ध के बाद दीवान साहब के पैर उखाड़ दिये।

इन दो शत्रुओं को परास्त करने के बाद, निर्भय होकर महारानी ने अपना ध्यान सेना के जमाव और संगठन तथा शासन-प्रबन्ध को सुधारने में लगाया। दस महीने तक किसी शत्रु का साहस झाँसी की ओर देखने का भी न हुआ और उनके इन दस महीने के शासन-काल में प्रजा ने उसी सुख और शांति का अनुभव किया जो वह गंगाधरराव के शासन-काल में करती थी। उन दिनों महारानी की पोशाक विचित्र रहती थी। लाल और मोतियों से जड़ी रेशमी टोपी, ढीला पायजामा, कमर तक फैली कंचुकी। कमर में दो पिस्तौल, जो चाँदी से मढ़े थे। चोली और चादर, गले में हीरों की माला।

महारानी न केवल योद्धा ही थी, शासन करने योग्य बुद्धि भी उनके पास पर्याप्त थी। उनके न्याय तथा उनकी दया से गरीब और अमीर सब खुश थे। सैन्य-सञ्चालन में तो वह किसी भी दक्ष पुरुष सेनापति का मुकाबला कर सकती थी। घुड़सवारी और तलवार चलाने में भी उनका मुकाबला करने वाले अंग्रेजी-सेना में भी विरले ही थे।

जब महारानी ने अंग्रेजी-सेना से युद्ध आरम्भ किया, तब उनकी सेना में अधिकांश सैनिक नए और अनुभवहीन थे, क्योंकि अनुभवी सैनिक झाँसी को स्वतंत्र करके दिल्ली की ओर चले गये थे। परन्तु फिर भी महारानी ने उन्हें काफी शिक्षित कर दिया था।

ह्यूरोज के पास सैनिकों और साधनों की कमी न थी। उसने किले को चारों ओर से घेरकर तोपों से गोलाबारी आरम्भ कर दी। महारानी ने भी इस गोलाबारी का उत्तर गोलाबारी से ही दिया। पहले दिन अंग्रेजों को लड़ना कठिन हो गया और उन्हें व्यूह परि-वर्तन करने को विवश होना पड़ा। इसी समय महारानी की सेना [illegible]

एक देशद्रोही सैनिक अंग्रेजों से जा मिला और उसने अंग्रेजों को बता दिया कि किस ओर से गोलाबारी करने से किले को अधिक हानि पहुँचाई जा सकती है।

२५ और २६ मार्च को अंग्रेजों ने उसी स्थान से गोलाबारी करके किले को काफ़ी हानि पहुँचाई, परन्तु २६ मार्च की शाम को महारानी के एक सरदार ग़ुलाम गौस ने निशाना मारकर अंग्रेजी तोप चलाने वाले को ही ठंडा कर डाला। अब तोपें महारानी की ओर से चलने लगीं। ३१ मार्च तक इसी प्रकार दोनों ओर से तोपें चलती रहीं और अंग्रेज किले में प्रवेश करने में असमर्थ रहे।

इधर महारानी वीरता से किले की रक्षा कर रहीं थीं, उधर उन्होंने अपने बचपन के साथी रावसाहब जो नाना साहब के भाई थे, और बाजीराव पेशवा के दत्तक पुत्र के पास सहायता की प्रार्थना भी भिजवा दी थी। महारानी की सहायता के लिये तात्या टोपे बीस हज़ार सैनिकों को लेकर पहली अप्रैल को झाँसी जा पहुँचा। तात्या टोपे ने कई युद्धों में अंग्रजों को परास्त किया था, परन्तु उसे झाँसी में अंग्रेजों से स्वयं परास्त होना पड़ा। हारकर और लज्जित होकर वह काल्पी लौट गया।

इस हार से महारानी को बड़ी निराशा हुई, परन्तु उन्होंने फिर भी युद्ध चालू रखा। हतोत्साहित सैनिकों से उन्होंने कहा कि उन्हें अंग्रेजों से विजय अपने ही साहस और बल से प्राप्त करनी है। सैनिकों ने पुनः उत्साहित होकर युद्ध आरम्भ किया परन्तु अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध वह कहाँ तक टिकते। तेहर दिन के बाद झाँसी पर अंग्रेजों का अधिकार होगया।

नगर में अंग्रेजों के प्रवेश करते ही महारानी अपने डेढ़ हजार स्वामिभक्त अफ़गानी सिपाहियों को लेकर किले से बाहर आगई,

और अंग्रेजों से युद्ध करने लगीं। इस बार किसी भी पक्ष के पास तोपें न थीं, तलवारों का युद्ध था। इस युद्ध में अंग्रेजों को भागना पड़ा। ये भागकर दूर से गोलियाँ चलाने लगे। महारानी को गोलियों से अपनी रक्षा करने के लिए फिर किले में आना पड़ा।

उनके किले में जाते ही अंग्रेजों ने किले को घेरकर भीषण गोलाबारी आरम्भ कर दी। इस गोलाबारी में महारानी के कई वीर सरदार काम आये। सैनिकों की संख्या भी बहुत कम रह गई। तब महारानी ने किले को छोड़ना ही उचित समझा और दस-बारह सैनिकों और अपने दत्तक पुत्र के साथ वह किले से बाहर निकल गई। अंग्रेजों ने उन्हें निकलते देख लिया और लैफ्टिनेंट बौकर ने उनका पीछा किया। परन्तु बराबर एक दिन पीछा करते रहने पर भी वह महारानी को पकड़ने में सफल न हो सका।

दूसरे दिन जब महारानी अपने पुत्र को खाना खिलाने के लिये भंडारे नाम के गाँव में रुकीं, तो बौकर ने अपने सैनिकों सहित आकर उन्हें घेर लिया। महारानी ने वीरता के साथ शत्रु का सामना किया, और बौकर को बुरी तरह घायल किया। घायल बौकर अकेला ही झाँसी वापिस आया, और इधर १०३ मील का फासला चौबीस घंटे में घोड़े पर तय करके महारानी काल्पी पहुँच गयी।

काल्पी के किले में रावसाहब पेशवा तात्याटोपे को साथ ले अंग्रेजों से युद्ध करने की तैयारी कर रहे थे। लक्ष्मीबाई को देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। महारानी ने भी इस युद्ध की तैयारी में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

२५ अप्रैल को अंग्रेज लोग काल्पी को जीतने के लिये बढ़े। महारानी ने रावसाहब और तात्याटोपे से बार-बार कहा कि अंग्रेजों की जीत का कारण उनकी सेना-सुसंगठन है, इसलिए उन्हें भी अपनी

सेना को उनके समान सुसंगठित करना चाहिये। परन्तु उनके बार-बार कहने और प्रयत्न करने पर भी सेना को उनकी इच्छानुसार संगठित नहीं किया जा सका।

कोंच में विद्रोहियों को परास्त कर अंग्रेज़ सेनापति ह्यू रोज आगे बढ़ा। आगे बढ़ने पर उसकी सेना की मुठभेड़ रावसाहब और तांत्याटोपे की सेना से हुई। अंग्रेज़ों के पास तोपें और बन्दूकें पर्याप्त थीं। उनकी गोलाबारी के सामने मराठा-सैनिक नहीं टिक सके। जब वे भाग रहे थे, तब महारानी २५० सुशिक्षित घुड़सवारों के साथ आगे आईं और सीधे अंग्रेज़ों के सिर पर सवार होकर उनका अन्त करने लगीं। घोड़े की लगाम उन्होंने उस समय दांतों में भींच ली थी और दोनों हाथों से तलवार चला रही थीं। उनके इस आकस्मिक आक्रमण से अंग्रेज़ घबरा गये और गोलाबारी करना भूल गये। मराठे सैनिकों का भी साहस बढ़ा, और वे पलटकर पुनः युद्ध करने लगे। बढ़ते-बढ़ते महारानी अंग्रेज़ी तोपखाने से कुछ ही गज की दूरी पर रह गईं। यदि मराठों के पास भी तोपें होतीं तो वे इस समय अवश्य जीत जाते परन्तु तलवार तोपों और बन्दूकों के सामने कहाँ तक चलती रह सकती है? अंग्रेज़ों ने जब पुनः तोपें चलानी आरम्भ कीं तो मराठों में खलबली मच गई और महारानी के बहुत उत्साहित करने पर भी उनके पांव जमे न रह सके। लाचार, महारानी को भी इन सैनिकों के साथ वापिस लौटना पड़ा। २४ मई को काल्पी पर अंग्रेज़ों ने अधिकार कर लिया। रावसाहब और लक्ष्मीबाई अपने सरदारों के साथ अंग्रेज़ों के किले में प्रवेश करने के पूर्व ही भाग निकले थे। भागकर ये सब गोपालपुर पहुँचे।

गोपालपुर में सबने विचार-विमर्श किया कि आगे क्या हो? झांसी और काल्पी के दुर्ग हाथ से निकल जाने के बाद अब ग्वालियर

का किला शेष रह गया था, जिसपर अधिकार करके स्वतंत्रता के युद्ध को जारी रखा जा सकता था। महारानी ने इस किले पर अधिकार कर लेने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का सभी ने समर्थन किया और इसकी तैयारियां शुरू कर दी गई।

इन लोगों के पास धन, सैनिक तथा अस्त्र-शस्त्र, सभी वस्तुओं की बडी कमी थी। कमी नहीं थी तो केवल मानसिक-साहस की। इसी साहस के बल पर उन्होंने साधनों की कमी होते हुए भी ग्वालियर के किले को जीतने का निश्चय कर लिया।

ग्वालियर के राजा उस समय अंग्रेजों के साथ थे, परन्तु उनकी सेना उनके तथा अंग्रेजो के विरुद्ध थी। तात्याटोपे ने इन सिपाहियों को अपनी ओर कर लिया। उनकी सहायता से ग्वालियर के किले को लेने की योजना बनने लगी।

इस बीच तात्याटोपे, तथा महारानी के ग्वालियर के समीप आगमन की सूचना ग्वालियर-नरेश को मिल गई और उन्होंने एक रात को उनकी सेना पर अचानक आक्रमण कर दिया। पहले तो इस आकस्मिक आक्रमण से घबराकर महारानी की ओर के सैनिक भागने लगे, परन्तु जब स्वयं महारानी रणभूमि में उतर आईं तो उनका भय दूर हुआ और उन्होंने भी उत्साहित हो लडना आरम्भ किया। महारानी से लडने के लिये स्वयं ग्वालियर-नरेश महाराज जयाजीराव युद्धक्षेत्र में आये, परन्तु महारानी ने उन्हें ऐसा खदेड़ा कि उन्होंने ग्वालियर से भागकर सीधा आगरे पहुँचकर ही दम लिया। ग्वालियर पर कालपी की सेना का अधिकार होगया।

परन्तु ग्वालियर के किले पर अधिकार किये कुछ ही दिन बीते थे कि मराठों को फिर ह्यूरोज की सेना का सामना करना पड़ा। ह्यूरोज जयाजीराव को साथ लेकर १६ जून को बहादुरपुर पहुँचे, जहाँ

ग्वालियर-नरेश ने मुँह की खाई थी। बहादुरपुर और मुरार पर अधिकार करने के बाद अंग्रेज ग्वालियर की ओर बढ़े।

ग्वालियर को अंग्रेजों ने चारों ओर से घेर लिया था। पूर्व दिशा की रक्षा का भार महारानी ने अपने ऊपर लिया। मरदाना वेश में अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो वह लड़ने निकलीं। यह उनका अंतिम युद्ध था। इसी युद्ध की गाथा कवियित्री सुभद्राकुमारी चौहान ने गायी है और महारानी के विषय में उनकी कविता की यह पंक्ति :

"खूब लड़ी मरदानी, वह तो झाँसी वाली रानी"

तो हिन्दी में महारानी के नाम के साथ अमर हो गई है।

इसबार अंग्रेजों के आगे बढ़ते ही महारानी ने इनपर अपनी ओर से ही गोलाबारी आरम्भ कराई। जब अंग्रेज पीछे हटने लगे, तब वह उनपर टूट पड़ीं। पहले दिन संख्या में कई गुने होने पर भी अंग्रेज-सैनिक अपने शत्रुओं से परास्त हुए।

अगले दिन ह्यू रोज ने रावसाहब को हराकर गिरफ्तार कर लिया। महारानी फिर भी युद्धक्षेत्र में डटी रहीं। जब उनके तोपखाने पर अंग्रेजों का अधिकार होगया तब वह तलवार से ही युद्ध करती रहीं। एक-एक करके जब उनके सब सरदार और सैनिक स्वर्गवासी होने लगे, तब वह तलवार चलाती-चलाती शत्रुओं के बीच से बाहर निकलीं। निकलते समय एक गोली उनकी पीठ में लगी, जिसने उन्हें अशक्त कर दिया। इसी समय उनका घोड़ा भी एक नाले के सामने अड़ गया। पीछे से एक घुड़सवार ने उनपर ऐसी तलवार चलाई कि उनके सिर का दाहिना अंग अलग होगया और उनकी आँखें बाहर निकल आईं। एक दूसरे सिपाही ने उनकी छाती में किरच भोंक दी। ऐसी अवस्था में भी महारानी ने अपने एक आक्रमणकारी को तलवार के सहारे मौत के घाट उतार ही दिया।

दूसरा सिपाही भी डर के मारे वहाँ टिका न रह सका।

मरने से पूर्व वह कह गई थीं कि मरने के तुरन्त बाद ही उनका दाह-क्रिया-संस्कार कर दिया जाये ताकि शत्रु उनके शव का स्पर्श भी न कर सकें। यही हुआ भी और उनके मरने के पश्चात् उनके शव का स्पर्श तक उनके शत्रु न कर सके। उनकी घायल अवस्था में उनका एक स्वामिभक्त सैनिक उन्हें एक झोंपड़ी में ले गया था। वहीं ही यह स्वातंत्र्य दीप-शिखा विलीन हुई।

महारानी के अन्त समय का सबसे अधिक प्रामाणिक वर्णन वह है, जो उनके नौकर ने २० जून १८५८ को उनकी मृत्यु के तीन दिन बाद झाँसी के पोलिटिकल एजेन्ट के सम्मुख किया। उसने कहा—"उस दिन महारानी के सैनिकों की पोशाक लालरंग की पगड़ी, लालरंग की सिलवार और लालरंग की जैकेट थी। इस पोशाक में, दूर से सैनिकों के बारे में यह जानना कठिन हो जाता था कि वे स्त्रियाँ हैं या पुरुष ?

"१७ जून की शाम को वे अपने ४०० सैनिकों तथा एक दासी के साथ जिसकी पोशाक उनकी पोशाक से बिल्कुल मिलती थी, बैठी शरबत पी रही थीं। इसी समय उन्हें सूचना मिली कि अंग्रेज़ों ने मुरार-ग्वालियर सड़क पार करके दक्षिण की ओर से आक्रमण कर दिया है।

"रानी कुछ तैयारी करें, इसके पूर्व ही चालीस-पचास अंग्रेज घुड़सवार हाथों में तलवारें लिये वहीं आ धमके। उनके आते ही रानी के सब सैनिक, पन्द्रह को छोड़कर, जो उनके साथ रहे, वहाँ से भाग गये। रानी भी तुरन्त घोड़े पर सवार होकर भागीं। उनके घोड़े ने वहाँ से नहर पार करने में कुछ देर की और इसी बीच उन्हें एक गोली लगी। गोली लगने के लगभग साथ ही एक अंग्रेज घुड़सवार

की तलवार उनके माथे पर लगी। लेकिन रानी ने इन आघातों को सहकर भी, अपने घोड़े को आगे बढ़ाया। परन्तु भाग्य उनके साथ न था, और अगले ही क्षण वे घोड़े पर से गिर पड़ीं, और गिरते ही उनके प्राण निकल गये। उनके नौकर अविलम्ब उनके शव को पास के एक बाग में ले गये, और वहां फूस के एक ढेर पर उसे रखकर उसमें आग लगा दी।"

एक अंग्रेज अधिकारी की पत्नी ने, जो इस आक्रमण के समय घटना-स्थल पर उपस्थित थी, रानी के अन्तिम क्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"...जिस अंग्रेज़ घुड़सवार ने रानी के माथे पर तलवार चलाई थी, उसे यह ज्ञात न था कि वह रानी पर आक्रमण कर रहा है। पर मैंने बाद में सुना कि उनकी मृत्यु तलवार के उस आघात से नहीं, बल्कि गोली लगने से हुई। सर ह्यू रोज से मुझे यह भी मालूम पड़ा कि वह युद्धक्षेत्र में गोली खाकर भी नहीं गिरीं, बल्कि घोड़े पर सवार हो एक अन्य स्थान पर पहुँची, जहाँ उन्होंने अपने सेवकों को आदेश दिया कि उनके देहावसान के तुरन्त बाद उनके शव को जला दिया जाये। मैंने यह भी सुना कि घायल होते हुए भी उन्होंने अपनी चिता बनाने में सहायता दी और स्वयं उसमें आग भी लगाई। मैं तो इस असाधारण साहस की कल्पना से दंग रह जाती हूँ।"

कुछ इतिहासज्ञों के अनुसार महारानी की मृत्यु का यह दूसरा वर्णन अतिशयोक्ति है। परन्तु इतना तो सत्य है कि उन्होंने मरने से कई दिन पूर्व यह इच्छा प्रकट की थी कि वह अंग्रेज़ों के हाथों पड़ने की अपेक्षा सती होना पसन्द करेंगी। और यह भी सत्य है कि उनकी यह इच्छा पूर्ण हुई।

फूलबाग (ग्वालियर के उस बाग) में, जहां रानी का अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ था, उनकी स्मृति में तीन वर्ष पूर्व एक 'छतरी' का निर्माण करा दिया गया था। यहां हिन्दी तथा अंग्रेजी में महारानी का परिचय एक शिला पर अंकित है। हिन्दी में वह शिलालेख इस प्रकार है—

महारानी लक्ष्मीबाई का संक्षिप्त परिचय

"इस भारतीय स्त्रीरत्न का जन्म विक्रम संवत १८९१ कार्तिक बदी १४ को बनारस के एक महाराष्ट्र ब्राह्मण के घर हुआ था। आपका बचपन का नाम मनुबाई, माता का नाम भागीरथी बाई और पिता का नाम मोरोपन्त ताम्बे था। आपका विवाह झांसी के राजा गंगाधर राव नेवलकर के साथ हुआ। पति की मृत्यु के पश्चात् आपने झांसी-राज्य का कार्य बड़ी योग्यता के साथ किया, जिसकी आमदनी उस समय लगभग बीस लाख की थी। आप बड़ी प्रभावशालिनी थीं, और सारी प्रजा आपका बहुत आदर और मान करती थी। अंग्रेज सरकार के साथ आपका मित्रतापूर्ण व्यवहार रहा, परन्तु औरस पुत्र न होने के कारण दत्तक पुत्र न लेने की सम्मति देते हुए अंग्रेज-सरकार ने झांसी-राज्य को ज़ब्त कर लिया, जिससे आप बहुत निराश हुईं और विक्रम संवत् १९१४ के सिपाही-विद्रोह में आप विद्रोहियों से मजबूरन मिल गईं। दस दिन तक झांसी के किले में आपने अंग्रेजी-सेना से घनघोर युद्ध किया। आखिर में आप ग्वालियर आईं और यहाँ भी आपने बड़ी वीरतापूर्वक अंग्रेजी-सेना से युद्ध किया और छब्बीस वर्ष की युवावस्था में ही विक्रम संवत् १९१५ ज्येष्ठ सुदी ७ को वीरगति को प्राप्त हुईं। आपके साथियों ने इसी स्थान पर घास की गंजी में भक्तिपूर्वक आपका दाहसंस्कार कर आपके नाम को अजर-अमर बना दिया। मध्यभारत के प्रसिद्ध अंग्रेज-

सेनापति सर ह्यूरोज ने आपके सम्बन्ध में यह स्पष्ट कहा था कि "शत्रुदल में सब से योग्य नेता झासी की रानी हैं।"

प्रसिद्ध आंग्ल कवि टैनीसन की एक कविता की कुछ पंक्तियों को बदलकर महारानी के स्मारक पर यह भी लिखा जा सकता है—

'ओ भारतीय रक्त से प्लावित होकर पल्लवित हुई वाटिका, तेरी ही गोद में, युद्ध में अंग्रेज़ों के हाथ से, हमारी महारानी का अन्त हुआ।'

स्वामी दयानन्द अपने युग के सबसे बड़े सुधारक और आर्य-संस्कृति के उद्धारक थे। उनके समकालीन अनेक सुधारक हुए, किन्तु आर्य-संस्कृति के प्राचीन तत्वों की रक्षा करते हुए नवीन युग की श्रेष्ठता का समन्वय स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त किसी सुधारक ने नहीं किया।

अन्य सम्प्रदायों के तीव्र समालोचक होते हुए भी जितनी विशाल लोकप्रियता स्वामी दयानन्द ने प्राप्त की, किसी दूसरे व्यक्ति को शायद ही प्राप्त हुई होगी। मध्यकाल के सन्तों की वाणी और वेदान्त के गूढ़ तत्वों का ठीक अर्थ न जानने के कारण उस समय भारत में सर्वसाधारण में घोर निष्क्रियता फैल गई थी और अज्ञान ने घर कर लिया था। इस अज्ञान और अज्ञान-जन्य अकर्मण्यता को दूर करना ही स्वामी दयानन्द के जीवन का लक्ष्य बन गया और उन्होंने कठिन साधना से इस लक्ष्य को पूरा किया, हिन्दू जाति को मिटने से बचाया। हमारा विश्वास है कि यदि स्वामीजी न होते तो भारत के शिक्षित समाज का बहुमत ईसाइयत के रंग में पूरी तरह रंग जाता और इस विज्ञान-युग की आंधी में भारतीय-संस्कृति का प्राचीन गौरव नष्ट हो जाता।

आदर्श संन्यासी होने के कारण स्वामीजी अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों के नाम और ग्राम का बिल्कुल परिचय नहीं देते थे। अपने जन्म देश का वर्णन करते हुए उन्होंने केवल इतना ही कहा था कि मेरा जन्म मच्छुकंठ नदी के किनारे मोरवी नगर से [illegible] कोस के

संवत् १८८८ में हुआ था। मोरवी-राज्य में टंकारा नामक ग्राम है। यहीं आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम करषन जी था। करषन जी बड़े भूमिधर थे। स्वामी दयानन्द का प्रथम नाम मूलजी था। लोग इन्हें दयाल जी कहकर भी पुकारा करते थे।

इस समय ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के शासन के प्रतिनिधि लार्ड एमहर्स्ट थे। भारत में सर्वत्र विप्लव और अशांति के चिन्ह नजर आ रहे थे। सामाजिक दशा अति शोचनीय थी। जाति विद्रोह ने घोर रूप धारण कर लिया था। ईसाइ-धर्म के प्रचारक समस्त भारत को ईसाई बनाने के लिय यत्नशील थे। पश्चिमी सभ्यता में दीक्षित नव-शिक्षितों को ईसाई बनाने में पादरी लोगों को पूरी सफलता मिल रही थी।

बालक दयानन्द को शैव-धर्म की दीक्षा मिली थी। उनके पिता औदीच्य ब्राह्मण थे और पक्के शिवोपासक थे। इसलिये शैव-सम्प्रदाय के नियम पालन करने के लिये बालक दयानन्द को भी बाधित किया गया।

बालक दयानन्द ने जब १४ वर्ष की आयु को पार किया, तब उन्हें नया ज्ञान मिला। इस घटना ने उनके जीवन को नया रूप दे दिया। माघ वदी १४ को महाशिवरात्रि के दिन स्वामी दयानन्द भी अपने पिता के साथ शिवालय गये। उन्हें समझाया गया कि आज रात-भर आपको जागरण करना होगा। सब लोग सो गये, किन्तु स्वामीजी जागते रहे। उन्होंने देखा, शिवलिंग पर चूहे चढ़ आये हैं और मूर्ति पर चढ़ाये गये मिष्टान्न को खा रहे हैं। इस घटना से स्वामीजी का मन अनेक शंकाओं से घिर गया। उन्हें शिवशक्ति पर अनास्था होगई और मूर्तिपूजा एक प्रवंचना प्रतीत होने लगी। अंतरात्मा में स्वभावतः एक संघर्ष पैदा हुआ। पिता ने अनेक

युक्तियों से समाधान करना चाहा, किन्तु बालक दयानन्द का सन्देह दूर नहीं हुआ। उन्होंने अनशन-व्रत भी तोड़ दिया और मूर्तिपूजा का भी परित्याग कर दिया।

सन्देह का यह बीज वेदान्तों के अध्ययन के साथ और भी गहरा होता गया। सं० १८९६ वि० में जब वे १६ वर्ष के थे उन्हें अपनी १४ वर्षीया छोटी बहन की अकाल मृत्यु भी देखनी पड़ी। बालक दयानन्द के लिये यह मृत्यु अमरसाधना का नया संदेश लाने वाली थी। इस मृत्यु ने उन्हें मृत्युञ्जय बनने का आदेश दिया। वे जन्म-मृत्यु के दारुण दुख से सदा के लिये छूटने का उपाय सोचने लगे।

वैराग्य का यह सूत्र प्रबल होता गया और जब उनके माता-पिता ने दयानन्द के विवाह का सङ्कल्प किया तब इस वैराग्य का परिणाम प्रकाश में आया। आपने विवाह करना अस्वीकार कर दिया और काशी जाकर शास्त्रानुशीलन करने की आज्ञा मांगी। आपने माता पिता से अपने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि विवाह में मुझे कोई रुचि नहीं। पिता को दयानन्द की यह बात अच्छी न लगी। उनका आग्रह बढ़ता चला गया।

इधर विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं और उधर संवत् १९०३ में दयानन्द २२ वर्ष की अवस्था में घर छोड़कर, [illegible] से सुशोभित कर के निकल पड़े कि "अब मैं लौटकर न आऊँगा।" गृह-त्याग की पहली रात्रि आपने [illegible] के [illegible] पर व्यतीत की। इसके बाद [illegible] ग्राम-ग्राम और नगर-नगर चलते हुए आप [illegible] में आये। यहाँ आपकी भेंट चैतन्य मठ के ब्रह्मचारियों से हुई। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] में और [illegible] में ही [illegible]

था। नर्मदा तट पर आपने इस प्रकार डेढ़ वर्ष व्यतीत किया।

जिस समय आपकी आयु चौबीस वर्ष दो मास की थी तब चाडोंद ग्राम से डेढ़ कोस के अन्तर पर जङ्गल में एक दाक्षिणात्य दंडी स्वामी से भेंट हुई। दंडीजी का शुभ नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। युवक दयानन्द ने दंडीजी से सन्यास लेने का प्रार्थना की। दंडीजी ने स्वामीजी का विधिपूर्वक संन्यास कराया और उनका नाम दयानन्द सरस्वती घोषित किया। स्वामी पूर्णानन्द जी शृंगेरी मठ से द्वारिका जाते हुए मार्ग में चाड़ोंद में ठहर गये थे। संन्यास लेने के बाद यतियों-मुनियों से मिलते हुए वैशाख सं० १९१२ में होने वाले कुम्भ के मेले में पधारे। उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी। कुम्भ के अनाचारों को देखकर आपको पौराणिक रीति-नीति से अत्यन्त अरुचि होगई और आपने समाज की कुरीतियों को दूर करने का संकल्प किया। कुम्भ के बाद आप टेहरी पधारे और केदार घाट पर एक मन्दिर में आसन लगाया। वहा आप बहुत दिनों तक हिम-मंडित हिमालय की पर्वत-मालाओं में भ्रमण करते रहे। आप बद्री-नारायण भी गये और वहा से देश के अन्य तीर्थों का भ्रमण किया। इसके बाद वर्ष पर्यन्त नर्मदा तट पर पर्यटन करते रहे। इस बीच अनेक सन्तों का सत्संग प्राप्त हुआ। किन्तु कोई सच्चा गुरु न मिला। अन्त में उनकी साधना पूरी हुई और उन्हें मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी मिले। स्वामी विरजानन्द मथुरा में रहकर अलवर के राजा विनयसिंह जी को पढ़ाते थे। अतिरिक्त समय में वे अपनी पाठशाला में अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इसी पाठशाला में स्वामी दयानन्द ने भी दीक्षा ली।

कार्तिक सुदी दो संवत् १९१७ को स्वामी दयानन्द सरस्वती विरजानन्द जी के शिष्य बने और उनसे अध्ययन प्रारम्भ किया।

स्वामीजी के भोजन और ग्रंथादि के विषय में मथुरा के एक निवासी अमरलाल ने सहायता की। विश्राम-घाट के ऊपरी भाग में स्थित लक्ष्मीनारायण के मंदिर के नीचे की एक छोटी-सी कोठरी में स्वामी दयानंद जी रहते थे। वह इतनी छोटी थी कि स्वामीजी कठिनता से पांव पसारकर वहां सो सकते होंगे।

गुरु की ताड़ना-तर्जना को स्वामीजी कृपा ही मानते थे। एक दिन स्वामी विरजानन्द जी ने आवेश में आकर श्री दयानन्द जी पर लाठी का प्रहार किया। उनकी भुजा पर कड़ी चोट आई, किन्तु पीड़ा का कोई ध्यान न करके उन्होंने गुरुजी से कहा—"महाराज, मेरा शरीर कठोर है और आपके हाथ कोमल हैं। मारने से आपको कष्ट होता होगा। इसलिये मुझे मारा न कीजिये।" उस दिन के घाव का चिन्ह उनकी भुजा पर जीवन-भर बना रहा। वे उसे जब देखते थे, गुरुजी के उपकारों का स्मरण करने लग जाते थे। ढाई वर्ष तक स्वामीजी ने महात्मा विरजानन्द जी के चरणों में बैठकर शास्त्रों का अध्ययन किया। दीक्षांत के समय स्वामी विरजानन्द शिष्यों से लौंग की भेंट लिया करते थे, किन्तु जब स्वामी दयानन्द गुरु-दक्षिणा लेकर पहुँचे तो स्वामी विरजानन्द ने कहा—"मैं तुमसे दूसरी ही गुरु-दक्षिणा चाहता हूँ। भारत में दीन हीन जन अनेक विधि दुःख पा रहे हैं। जाओ, उनका उद्धार करो! मत-मतान्तरों के कारण जो कुरीतियां प्रचलित हो गई हैं उन्हें निवारण करो। आर्य-जनता की बिगड़ी हुई दशा को सुधारो। आर्य-संतान का उपकार करो। ऋषि-शैली प्रचलित करके वैदिक-ग्रंथों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्ति-शील बनाओ। गंगा-यमुना के निरंतर प्रवाहशील प्रवाह की भांति लोक-हित-कामना से निरालस जीवन बिताओ। प्रिय पुत्र! गुरु दक्षिणा में यही वस्तु मुझे दान करो। अन्य किसी सांसारिक पदार्थ

की मुझे चाह नहीं है।"

इसके बाद स्वामीजी का संपूर्ण जीवन आर्य-ग्रंथो के प्रचार में व्यतीत हुआ। वैशाख सं० १९२० के अंत में आप मथुरा से आगरा पधारे और यमुना के किनारे भैरव-मंदिर के निकट आसन जमाया। नगर-निवासी आपके उपदेशों को सुनने आने लगे। उन दिनों आप कोई सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनते थे। सबसे पहली पुस्तक आपने उन्हीं दिनों भागवत खंडन पर एक पाखंड-खंडन नामक संस्कृत में लिखी। आगरे से धौलपुर होते हुए आप आबू गये और वहा से ग्वालियर। उन दिनों भागवत कथा का बहुत प्रचलन था। स्वामीजी ने भागवत खंडन प्रारंभ कर दिया और पंडितों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। ग्वालियर से आप जयपुर आये। वहा आपको महलों में बुलाया गया और एक जैन गुरु से शास्त्रार्थ हुआ। उन दिनों आप प्रतिमा-पूजन का खंडन करते थे। चार मास जयपुर में निवास करके आपने अनेक ठाकुरों को अपना शिष्य बना लिया। वहा से आप अजमेर और पुष्कर-राज्य गये। पुष्कर में ब्रह्मा के मंदिर में निवास किया किन्तु प्रतिमा-पूजन का खंडन करते रहे। वहा के प्रसिद्ध विद्वान् वेंकट शास्त्री ने आपसे शास्त्रार्थ किया। वेंकट शास्त्री ने अंत में घोषणा की—'स्वामी दयानन्द का पक्ष ही सर्वथा सत्य है।' वेंकट शास्त्री भी स्वामीजी के अनुयायी बन गये। सैंकड़ों मनुष्यों ने अपनी कंठियां उतारकर पुष्करार्पण कर दीं।

स्वामीजी के संतोष, क्षमा, सरलता और शांति का सभी लोग यश गाते थे। उनकी विद्वत्ता का लोहा सारी पंडित-मंडली ने मान लिया। पुष्कर से तीन कोस पूर्व की ओर मार्कण्डेय की गुफा है। उन दिनों स्वामीजी वहां से विभूति मंगाकर रमाया करते थे। बाईस दिन पुष्कर में निवास करने के बाद स्वामीजी द्वितीय ज्येष्ठ वदी प्रथमा

१६२३ को अजमेर पहुँचे। अजमेर मे स्वामीजी की भेंट उस समय के प्रसिद्ध ईसाई विद्वान् राबिन्सन, पादरी ग्रे और शूलब्रेड के साथ हुई। पादरी शूलब्रेड ने स्वामीजी से कहा 'यदि आप इस तरह खडन करेंगे तो जेल चले जायेंगे।' स्वामीजी ने बडी गम्भीरता से मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड सकता। ईसा को भी लोगों ने फासी पर लटका ही तो दिया था।'

अजमेर से स्वामीजी किशनगढ़ पहुँचे और फिर जयपुराधीश के आग्रह पर जयपुर गये। जयपुर के राज्य-मन्दिर में पधारने के लिए जयपुराधीश ने निमन्त्रण दिया, किन्तु कारण-वश महाराजा रामसिंह स्वय मन्दिर में नहीं आ सके। स्वामीजी को इस बात पर बहुत दुःख हुआ। इसके बाद महाराजा ने कई बार आग्रह करके स्वामीजी को राज-मन्दिर आने का बुलावा भेजा, किन्तु स्वामीजी ने स्वीकार न किया। वहाँ से आप पुन. मथुरा आए और वहाँ वैष्णव-शैव और शाक्त आदि सम्प्रदायों को अनूलक प्रमाणित किया। एकादशी आदि व्रतों के माहात्म्य को भी आपने व्यर्थ सिद्ध किया और केवल वेद को ही प्रामाणिक बताया।

उन्हीं दिनो कुम्भ-सक्रांति के एक मास पूर्व चैत्र स० १६२४ मे आप हरिद्वार के कुम्भ मे पधारे। वहा भीमगोडे के ऊपर कुछ पर्ण-कुटिया बनाई और पाखण्ड-खडिनी पताका स्थापित कर दी। पौराणिक-धर्म के उस गढ़ मे आपने वैदिक-धर्म की घोषणा की। स्वामीजी की पर्णकुटी पर झूमते हुए ओम् के झडे को देख लोग हजारों की संख्या मे जमा होने लगे। बहुत से ब्राह्मण और साधू स्वामीजी की कुटी पर शास्त्रार्थ करने आते थे। उस महा-मेले में स्वामीजी ने बहुत से व्याख्यान दिए, अनेकों शास्त्रार्थ किए, सैंकडो जिज्ञासुओं को समझाया।

इस द्वादश-वर्षीय महाकुम्भ के बाद स्वामीजी ने सर्वस्व त्यागकर तपस्या करने का निश्चय किया। आपने अपने सारे उपकरण वहां त्याग दिये और महाभाष्य की एक पुस्तक, एक स्वर्ण-मुद्रा और मलमल का एक थान भी गुरुदेव की सेवा में मथुरा भेज दिया। सब-कुछ त्यागकर आप सारे तन पर राख रमा, कौपीनधारी बन गए। व्याख्यान देना और वाद-विवाद करना भी छोड़ दिया। सर्वथा मौन रहने का व्रत लिया।

किन्तु इस लम्बे मौन-व्रत की निस्सारता आपके सामने बहुत जल्द प्रकट होगई। लोक-हित करते हुए धर्म-प्रचार करने का ही आपने पुनः संकल्प किया। एकान्तवास छोड़कर फिर कर्म-क्षेत्र में उतर आये। यहाँ से आप गढ़मुक्तेश्वर गये। वहां आप एक माझी के कुटी के पास दिन-रात रेत पर रहते और जो कोई आता, उसे उपदेश देते थे। पन्द्रह दिन गढ़मुक्तेश्वर रहने के बाद आपने अन्य शहरों का भ्रमण प्रारम्भ कर दिया।

स्वामीजी के खण्डन से क्रुद्ध होकर कई ब्राह्मण उनकी हत्या के लिये कटिबद्ध होगये। एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी के समीप आया और उसने पान निवेदन किया। स्वामीजी ने सहज भाव से पान मुख मे रख लिया। उसका रस लेते ही वह जान गये कि यह विषयुक्त है। ब्राह्मण को कुछ न कहकर वे उसी समय गंगा पार चले गये और वस्ती और न्योली कर्म करके विष निकाल लिया। स्वामीजी को विष देने का भेद अनूपशहर के तहसीलदार को भी मालूम होगया। वह स्वामीजी का भक्त था। उसने विष देने वाले को बुलाकर कैद में डाल दिया। स्वामीजी को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने कहा, "मैंने सुना है कि मेरे लिये आज आपने एक व्यक्ति को कैद किया है। मैं मनुष्यों

को मुक्ति देने आया हूँ, बन्धन में डालने नहीं । आप उसे स्वतन्त्र कर दें ।"

स्वामीजी की क्षमा-वृत्ति देखकर तहसीलदार आश्चर्य-चकित रह गया ।

स्वामीजी बड़े छोटे में कोई भेद नहीं रखते थे । उनकी दृष्टि में सब प्रकार के कामों का एक ही समान ऊँचा दरजा था । एक दिन एक भक्त धुनिये ने प्रार्थना की कि "स्वामीजी, जप के अतिरिक्त मुझे और क्या कर्म करना चाहिए, जिससे मेरा कल्याण हो ?" स्वामीजी ने कहा—"सदाचार पूर्वक जीवन बिताओ, जितनी रुई किसी से लो. धुनकर उतनी ही उसे पीछे लौटा दो । यही सद्व्यवहार तुम्हारे लिये एक उत्तम कल्याणकारी कर्म है ।"

छुआछूत में भी स्वामीजी का विश्वास नहीं था । उनकी दृष्टि सब के लिये सम थी । अनूपशहर में एक उमेदा नाई रहता था । एक दिन वह भक्ति-भावना से थाल में भोजन परसकर स्वामीजी की सेवा में लाया । स्वामीजी ने भोजन ले लिया । अचानक उस समय वहाँ बीस-पच्चीस ब्राह्मण भी थे । वे कह उठे । "छि छि. स्वामीजी यह क्या करते हैं । यह रोटी तो नाई की है ।" स्वामीजी ने हँसते हुए जवाब दिया । "नहीं यह रोटी तो गेहूँ की है इसलिये मैं इसे अवश्य खाऊँगा ।"

निर्भयता स्वामीजी में आश्चर्यजनक थी । एक दिन कर्णग्राम के राव कर्णसिंह जी जो वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी रंगाचार्य के चेले थे, स्वामीजी के पास आये और कहने लगे, "याद रखो. यदि मेरे सामने तुमने हमारे गुरु की निन्दा की, तो बुरी तरह बर्ताव करूँगा ।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, मैं किसी की निन्दा नहीं करता । किन्तु जो वस्तु जैसी है वैसी कहना अपना धर्म मानता हूँ । राव

महाशय इस तरह के कई उत्तर पाकर बहुत क्रुद्ध होगये। उनकी आँखों में लहू उतर आया और अनापशनाप बकने लगे। कभी-कभी उनका हाथ तलवार की मुट्ठी पर भी जाता था। इस पर स्वामीजी ने हँसते हुए कहा। "राव महाशय तलवार की मुट्ठी को क्यों बार-बार छूते हो, तलवार टकराने का चाव हो तो सन्यासी से क्यों जयपुर, जोधपुर के नरेशों से जा भिड़ो। रावसाहब क्रोध से जल उठे। तलवार उठाकर वे स्वामीजी की ओर लपके। स्वामीजी ने तलवार उनके हाथ से छीन ली और भूमि के साथ टेककर तलवार के दो टुकड़े कर डाले। तब राव महाशय का मुख पीला पड़ गया। स्वामी-जी ने कहा। "मैं संन्यासी हूँ, मेरे हाथों तुम्हारा अनिष्ट नहीं होगा।" यह कहकर उन्होंने तलवार के दोनों खण्ड दूर फेंक दिये। राव महाशय लज्जित होकर लौटे। स्वामीजी की इस वीरता की कहानी चारों ओर फैल गई।

उन दिनों स्वामीजी गंगातट के नगरों में, परिभ्रमण कर रहे थे। गंगा समीपवासी हजारों लोगों को जनेऊ देकर आपने द्विज बनाया, संध्या सिखाई, गायत्री का जप बताया और लाखों लोगों को सदुपदेश से सन्मार्ग दिखाया। अढाई वर्ष तक इस तरह भागीरथी तट पर विचरते हुए वैदिक-धर्म का प्रचार करते रहे।

उन दिनों भी काशी हिन्दू-शास्त्र के पंडितों का केन्द्र था। स्वामी दयानन्द जी की देर से इच्छा थी कि वह मूर्तिपूजा के केन्द्र काशी में जाकर पौराणिक महादुर्ग का भेदन करें। काशीवासियों को वैदिक-धर्म का सच्चा स्वरूप बतलायें। उन्हें विश्वास होगया था कि यदि वे काशी में सुधार और नया-संस्कार ला सकेंगे तो पौराणिक आचार-विचार में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकेगा। यही सोचकर आप कार्तिक वदी दो सं० १९२६ वि० को काशी पधारे। उनके आने का

समाचार काशी में बिजली की तरह फैल गया। काशी आने पर आपने काशी-नरेश को सन्देश भिजवा दिया कि 'आपका कर्तव्य है कि मूर्तिपूजा आदि विषयों पर शास्त्रार्थ कराकर सत्यासत्य का निर्णय करें।' नरेश ने शास्त्रार्थ का प्रबन्ध कर दिया। शास्त्रार्थ की धूम काशी में मच गई। काशी-नरेश सहित सैंकड़ों विद्वान् जिनमें पंडित-सैन्य के प्रसिद्ध महारथी स्वामी विशुद्धानन्द जी, बाल शास्त्री, शिवसहाय और माधवाचार्य का नाम उल्लेखनीय है, शास्त्रार्थ करने आये।

चार घंटे तक निरन्तर शास्त्रार्थ होता रहा। काशी के विद्वान् जब तर्क में सफल न हुए तो उन्होंने कूट-नीति से काम लिया। सारे पंडित तालियाँ पीटने और जय-जय नाद करने लगे। सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई। कुछ लोगों ने स्वामीजी पर पत्थर और कंकर फेंके। काशी के उपद्रवी पंडों ने स्वामी जी को अपमानित करने के बहुत प्रयत्न किये। काशी के कुछ उत्पाती मुसलमान भी इसमें शामिल थे। एकबार उन्होंने स्वामीजी को उठाकर गंगा में फेंकने का भी यत्न किया। स्वामीजी यदि पद्मासन लगाकर गंगा के पानी में देर तक न बैठे रहते तो उपद्रवी मुसलमानों का यह दल उनके प्राण ले लेता। उन्हें पान में ज़हर भी दिये गये और उनके वध के अन्य षड्यंत्र भी रचे गये।

स्वामीजी का व्यवहार अपने विरोधियों के प्रति भी सदा मधुर रहता था। उनके वचन में कभी व्यक्तिगत कटाक्षों का समावेश नहीं हुआ। वैर-बुद्धि उन्हें छू तक नहीं गई थी इसलिये विरोधी भी उनकी बातों को सुनकर भक्त बन जाता था।

काशी में प्रचार करने के बाद आप प्रयाग के कुम्भ मेले पर प्रचार करने के लिये प्रयाग गये। स्वामीजी उन दिनों अवधूत-वृत्ति

में रहा करते थे। माघ में घोर शीत पड़ती थी किंतु उनके शरीर पर कौपीन से भिन्न कोई वस्त्र नहीं होता था।

कुछ दिन बाद फिर राव कर्णसिंह ने स्वामीजी के वध का षड्यंत्र किया। आपने तीन नौकरों को तलवारें देकर स्वामीजी को मारने को भेजा, किंतु उन शस्त्रधारी नौकरों का साहस निरस्त्र स्वामी के हुँकारगर्जन से काफूर होगया। स्वामी दयानंद इन षड्यंत्रों से ज़रा भी विचलित न हुए। वे कहा करते थे कि "हमारा रक्षक तो केवल एक भक्तवत्सल भगवान् ही है। हमें घबराना नहीं चाहिये।" अनेक बार ऐसा हुआ कि इस कौपीन-मात्र धारी संन्यासी ने चालीस-चालीस और पचास-पचास मनुष्यों के दल का अकेले ही सामना किया।

कुछ दिन बाद कलकत्ते जाकर स्वामीजी श्री केशवचन्द्र सेन से मिले। स्वामीजी की उक्तियां सुन और उनकी अपरिमित प्रतिभा का परिचय पाकर एक बार केशवचन्द्र सेन ने कहा कि 'शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता। अन्यथा इंग्लैण्ड जाते समय वह इच्छानुकूल साथी होता।' स्वामीजी ने भी हंसकर उत्तर दिया:—"शोक है कि ब्राह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे लोग समझते ही नहीं।" कलकत्ता में महात्मा देवेन्द्रनाथ ने भी स्वामी दयानद के प्रति श्रद्धांजलि भेंट की। राजा सुरेन्द्रमोहन जी के बुलावे पर आपने कहा—"मै एक व्यक्ति के लिये बहुतों की हानि नहीं कर सकता। राजा-महाशय मिलना चाहते हैं तो यहीं आ जायं।"

सं० १६३१ वि० में स्वामीजी बम्बई आये। शिक्षित-समाज ने युग के आदर्श सुधारक का सोत्साह स्वागत किया। कुछ विद्वेषी व्यक्तियों ने बलदेवसिंह को स्वामीजी के वध के लिये प्रेरणा दी।

किंतु इस षड्यन्त्र का भेद स्वामीजी को पहल ही मालूम होगया। बलदेवसिंह ने स्वामीजी के चरण पकड़कर क्षमा मांगी। बम्बई में ही स्वामीजी ने प्रथम आर्यसमाज की स्थापना की। मार्गशीर्ष मास सं० १९३१ वि० को बहुत से आर्य-सज्जन मिलकर स्वामीजी के पास आये और बोले—"हम आपके उपदेश से पूरा लाभ उठाने के लिये सत्सग की स्थापना करना चाहते हैं। कृपया आप श्रीमुख से उनका नामकरण कर दीजिये। स्वामीजी ने कुछ देर ध्यानावस्थित रहने के बाद कहा—"इस सत्संग का शुभ नाम आर्य समाज ही रखना उचित है।" तभी से आर्य सत्संग का नाम आर्य समाज रखा गया।

सत्यार्थप्रकाश की रचना बम्बई आने से पूर्व ही होगई थी। सत्यार्थप्रकाश लिखकर आप राजा जयकृष्णदास जी को छपवाने के लिये दे आये थे। बम्बई रहते हुए आपने 'संस्कार विधि' तथा अन्य कई ग्रंथ लिखे।

बम्बई से आप सूरत पहुँचे। सूरत के आसपास के गावों में भी गये और वैदिक-धर्म का प्रचार किया। स्वामीजी की सरलता, गम्भीरता और शुद्ध-व्यवहार का नवयुवकों पर भी बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। सूरत से आप भड़ोंच गये। नर्मदा के किनारे भृगु आश्रम मे आसन लगाया। भड़ोंच से आप अहमदाबाद गये। भड़ोंच में एक सेठ ने मन्दिर की ओर इशारा करते हुए कहा—'कि मन्दिर में मैंने दो लाख रुपये व्यय किये हैं।' स्वामीजी ने उत्तर दिया—'ऐसी अविद्या से ही आज हम लोगों की दुर्दशा हो रही है। यदि इतना धन आप पाठशाला में लगा देते तो सैंकड़ों अशिक्षित लोगों को शिक्षा मिलती।'

दूसरी बार १९३१ में जब स्वामीजी बम्बई आये तो आर्य-

समाज की स्थापना का आयोजन पूरा होगया था। स्वामीजी के आदेशानुसार चैत्र सुदी पाँच सं० १६३२ वि० शनिवार को बम्बई नगर के गिरगाव मुहल्ले में डाक्टर माणिकचन्द की वाटिका में सायं समय आर्य समाज की शुभ स्थापना हुई और आर्य समाज के मूलभूत नियम निर्धारित हुए।

स्वामीजी जब बम्बई प्रान्त मे विचर रहे थे, उन्हीं दिनों राजा जयकृष्णदास के प्रबन्ध से सत्यार्थप्रकाश छपकर प्रकाशित होगया था। बम्बई में ही आपने 'संस्कार विधि' और 'आर्याभिविनय' ये दो ग्रन्थ मुद्रित कराकर प्रकाशित किये। वेद-भाष्य करने का उद्योग भी आरम्भ होगया। उसी वर्ष स्वामीजी दिसम्बर मास के अन्त में दिल्ली आये। यहां आकर उन्होंने यह यत्न किया कि देश-भर के नरेशों की सभा कराके सबको एक धर्म में दीक्षित किया जाय। स्वामीजी का यह प्रयत्न सफल न हो सका। तब आपने अपने स्थान पर भारत के भिन्न-भिन्न मतों और जातियों विभागों के नेताओं की एक सभा बुलाई। उनके निमंत्रण पर पंजाब के प्रसिद्ध सुधारक कन्हैयालालजी अलखधारी, श्रीयुत नवीनचन्द्रराय, श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, सर सैयद अहमद, श्री केशवचन्द्रसेन और श्री इन्द्रमनजी ये छः सज्जन वहां पधारे, उनमें सातवें श्री महाराज सम्मिलित हुए और सब मिलकर भारत के हित के साधनोपाय सोचने लगे। यह बात सहज मे समझ मे आ सकती है कि आर्यावर्त की उच्च आत्माओं ने उस सम्मेलन में भारत-प्रजा के सुधार और निस्तार के अनेक साधन सोचे होंगे, परन्तु प्रसंग से सम्बन्ध रखने वाली बात यह है कि इस अभूतपूर्व सभा में स्वामीजी ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि हम भारतवासी सब परस्पर एकमत होकर एक ही रीति से देश का सुधार करें तो आशा है कि भारतदेश सुधर जायगा।

उन्होंने श्री केशवचन्द्रसेन आदि सज्जनों को यह भी कहा कि पृथक्-पृथक् सभा स्थापना करने के स्थान यदि हम मिलकर एक ही धर्म का प्रचार करें तो बहुत ही अच्छा हो। परन्तु कई मौलिक मन्तव्यों में मतभेद होने के कारण वे सब एकता के सूत्र में सम्बद्ध न हो सके।

सं० १९३४ वि० में स्वामीजी पंजाब की राजधानी लाहौर गये और वहा आर्यसमाज के नियमो का नूतन संस्कार करके आर्यसमाज की नींव एक प्रबल चट्टान पर रख दी। कार्तिक सुदी १ सं० १९३४ वि० में इन नियमों का अन्तिम स्वरूप बना। इसके बाद स्वामीजी ने घोषणा की कि "वैदिक धर्म-प्रचार का कार्य बहुत बड़ा है। हम जानते हैं कि वह हमारे इस सारे जीवन में पूर्ण न हो सकेगा।" लाहौर से आप अमृतसर आये और वहा से गुरुदासपुर गये। आपके व्याख्यान में उच्च कर्मचारी भी सम्मिलित होते थे। आप जहा भी जाते, आर्यसमाज की स्थापना करते थे। उन दिनों स्वामीजी के साथ वेद-भाष्य लिखने के लिये तीन पण्डित रहा करते थे। अँग्रेजी में पत्र-व्यवहार करने के लिये एक अंग्रेजीविज्ञ भी था। अन्यान्य कार्यों के लिये चार-पाच सेवक और थे। व्याख्यान देते समय आप सिर पर एक रेशमी पीताम्बर, एक पीली रेशमी धोती और ऊपर एक ऊनी चोगा पहन लेते थे।

"स्वामीजी के आगमन से पहले पंजाब में पादरियो का बड़ा प्रभाव था। पादरियों ने भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ किया। आर्यसमाज के प्रचार ने पादरियों का प्रभाव मिटा दिया।

कुछ वर्ष बाद स्वामीजी फिर राजस्थानी-राज्यों में भ्रमण करने आये। इस बार नरेशों ने स्वयं महाराज को निमंत्रित किया। १९३८ मे आप इन्दौर-नरेश के निमन्त्रण पर इन्दौर पहुंचे। वहा से बम्बई

होते हुए चित्तौड गये और फिर श्रावण वदी तेरह को उदयपुर पधारे। उदयपुर में जिस दिन आप पहुँचे उसी दिन श्री राणाजी मंत्रिमंडल और पुरोहितों सहित आपके दर्शन को आये। उदयपुर के राणा स्वयं प्रतिदिन स्वामीजी के दर्शन को आते थे। स्वामीजी ने श्री राणा-जी के साथ विचार करने के अनन्तर सारे राज्य के ठाकुरों के लड़कों के लिये एक पाठशाला भी खोलने का प्रवन्ध किया, किन्तु राणा के रोगी होने के कारण यह कार्य बीच में ही रह गया। उदयपुर में रहते-रहते ही स्वामीजी ने परोपकारिणी सभा स्थापित की और अपनी पुस्तकों के सर्वाधिकार इस सभा को दिये। उदयपुर से सम्मान-पूर्वक विदा होने के वाद आप शाहपुरा पहुंचे। शाहपुरा रहते हुए आपके पास जोधपुर से लिखा महाराज यशवन्तसिंह का निमन्त्रण आया। जोधपुर जाते समय स्वामीजी को यह चेतावनी दी गई कि "जहां आप जा रहे हैं वहा के राजा लोग भोग-विलास में डूबे हुए हैं। वे लोग कठोर प्रकृति के हैं, कहीं ऐसा न हो कि सत्योपदेश से चिढ़कर वे आपको हानि पहुँचावें।"

स्वामीजी ने इसका उत्तर दिया—"यदि लोग हमारी अंगुलियों को वत्ती बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश दूंगा।"

जोधपुर-नरेश की ओर से स्वामीजी के स्वागत का उत्तम प्रबंध किया गया था। जोधपुर के राजा और दरवारी लोग स्वयं स्वागत को आये थे। जोधपुर में आने के पश्चात् सत्रहवें दिन महाराजा यशवंत-सिंह जी स्वयं स्वामीजी के आश्रम में आकर फर्श पर बैठ गये और कहा—"आप हमारे स्वामी हैं और हम आपके सेवक। इसलिये आपके सामने नीचे आसन में वैठने मे ही हमारी शोभा है।" दूसरे दिन से ही स्वामीजी की व्याख्यान-माला शुरू होगई। हज़ारों लोग

रोज व्याख्यान सुनने आते थे। स्वामीजी के दर्शन को महाराजा यशवंतसिंह तीन बार उनके आश्रम पर आये और स्वामीजी को महलों में आने का निमंत्रण दिया। एक दिन जब स्वामीजी जोधपुराधीश को दर्शन देने गये तो उस समय वहां एक वेश्या नन्हीजान आई हुई थी। उसे देखकर स्वामी दयानन्द बहुत दुःखी हुए, उन्होंने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—"राजन् ! राजा लोग सिंह समान समझे जाते हैं। स्थान-स्थान पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृशी है। वीरशार्दूल का कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है, आर्य जाति की कुल-मर्यादा के विपरीत है। केसरी की कंदरा में ऐसी कल्मष कलुषित कुक्कुरी के आगमन का क्या काम है ? इस कुव्यसन के कारण धर्म-कर्म भ्रष्ट हो जाता है। मान-मर्यादा को बट्टा लगता है। इस पापसोपान पर प्रथम पदार्पण करते ही, पुनः पद-पद पर पुरुष का अधःपतन, आप-ही-आप होता चला जाता है। इस दुर्व्यसन को तिलांजलि देनी चाहिये।"

नन्हीजान इस बात को जानती थी कि स्वामीजी के उपदेश वेश्या-व्यसन के विरुद्ध बहुत प्रभाव रखते हैं। उसे यह भी पता लग गया कि स्वामीजी ने उसकी तुलना कुतिया के साथ की है। इन दोनों बातों से उसके कलेजे पर साप लोटने लगा।

उसने स्वामीजी से बदला लेने के लिये ठान ली। सं० १९४० को रात्रि के समय स्वामीजी ने अपने रसोइये से दूध लेकर पिया और सो गये। थोड़ी देर तक आंख लग नहीं पायी थी कि उनके पेट में दर्द उठा। तब पता लगा कि नन्हीजान ने जगन्नाथ नामक एक व्यक्ति को छः-सात सौ का द्रव्य देकर स्वामीजी के भोजन में विष दे दिया था। विष का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया। वह विष स्वामीजी की नस-नस में प्रवेश करके जीवन-शक्ति का शोषण कर रहा था।

सायंकाल के चार बजे स्वामीजी की रुग्णावस्था का समाचार महाराजा प्रतापसिंह को मिला। आठ-नौ दिन में ही स्वामीजी का देह बहुत क्षीण होगया। किन्तु, सब कुछ जानते हुए भी उन्होंने मुख से किसी विश्वस्त को यह नहीं कहा कि मुझे विष दिया गया है।

विष देने वाले जगन्नाथ को पकड़कर जब स्वामीजी के सामने लाया गया तो उन्होंने उसे दंड देने के स्थान पर एकांत में कहा—"लो, यह कुछ रुपये हैं। मैं तुम्हें देता हूँ, तुम्हारे काम आयेंगे और जैसे भी हो राठौर-राज्य की सीमा से पार हो जाओ। जाओ, चुपचाप भाग जाओ। यहां तुम्हारा जीवन संकट में है।"

रोग के बहुत उपचार किये गये, किन्तु कोई भी सफल न हुआ। स्वामीजी को औषधि के लिये आबू पर्वत पर ले जाया गया। महाराजा यशवंतसिंह और महाराजा प्रतापसिंह स्वयं उन्हें विदाई देने आये। उन्होंने जब स्वामीजी से कहा कि "आपके इस रोग को मैं अपने ऊपर एक प्रकार का कलंक मानता हूँ" तो स्वामीजी ने आश्वासन देते हुए उत्तर दिया—"राजन्! आप इसकी चिन्ता न कीजिये। ईश्वर के विधान से जो होना निश्चित् है वह होकर रहेगा। रोग तो देह के साथ धूप और छाया की भांति लगे ही रहते हैं।"

कार्तिक कृष्णा चौदह को स्वामीजी के शरीर पर नाभि तक छाले पड़ गये थे। गला बैठ गया था। सारी देह में दाह-सी लगी हुई थी। परन्तु वे नेत्र बन्दकर ब्रह्मध्यान में मग्न थे। कार्तिक अमावस्या मंगलवार की दीपमाला के दिन स्वामीजी पुन. सशक्त होगये थे। उनका कंठ खुल गया था। उनके भक्तों ने समझा कि यह रोग निवृत्ति की प्रथमावस्था है, किन्तु वह तो बुझने-दीप की अंतिम ज्योति थी।

स्वामीजी ने उस दिन इच्छानुकूल भोजन बनाने की आज्ञा दी

और जब थाल लगकर आया तो अपने भक्तों में पक्वान्न बांट दिया। नाई को बुलाकर आपने क्षौर करने को कहा। फिर गीले तौलिये से शरीर को पोंछकर सिरहाने के सहारे पलंग पर बैठ गये और प्रिय शिष्यो के मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"इस नाशवान क्षणभंगुर शरीर का अब मै परित्याग कर दूँगा। तुम अपने कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए आनन्द से रहो। संसार में संयोग और वियोग का होना स्वाभाविक है।"

देह में सर्वत्र छाले पडे होने पर भी स्वामीजी का मुख प्रसन्न था। घबराहट के कोई भी चिन्ह लक्षित नहीं होते थे। शाम के साढ़े पान्च बजे स्वामीजी ने सब द्वार खुलवा दिये और वेदमन्त्रों का उच्चारण आरंभ कर दिया। अंतिम समय मे उन्होने कहा—"हे दयामय, हे सर्व शक्तिमान ईश्वर, सचमुच तेरी ही इच्छा है। हे परमात्मदेव, तेरी इच्छा पूर्ण हो।" इन शब्दों के साथ में आपने अतिम श्वास लिया। कार्तिक अमावस्या सं० १६४० वि० मगलवार को सायं छः बजे इस युग का सबसे बड़ा सुधारक और हिन्दू-जाति को नया जीवन देने वाला महापुरुष स्वामी दयानन्द संसार से विदा होगया। हिन्दू-जाति स्वामी दयानन्द के उपकारों से कभी ऋणमुक्त न हो सकेगी।

हमारे राष्ट्र-निर्माताओं में तिलक का स्थान अग्रणीय है, क्योंकि तिलक ने स्वतन्त्रता को जन्म-सिद्ध अधिकार कहकर देश के जन-मात्र में स्वराज्य की चेतना जाग्रत की थी। लोकमान्य के काल में अंग्रेजी शासन की जड़ें हमारी धरती में इतनी गहरी चली गई थीं कि किसी को यह कल्पना नहीं होती थी कि इस विष-वृक्ष की ये जड़ें अब कभी उखड़ भी सकती हैं। तिलक ने उस वृक्ष के विध्वंस का काम अपने ऊपर लिया, और अन्त में यह चमत्कार होकर ही रहा।

लोकमान्य के महान् कार्यों में एक यह भी है कि उन्होंने ही सर्व-प्रथम कांग्रेस को देश की स्वतन्त्रता का युद्ध लड़ने के लिये राष्ट्रीय-संस्था का रूप दिया था। उनके प्रयत्नों से ही कांग्रेस जनता की प्रतिनिधि संस्था बनी थी। तिलक से पूर्व कांग्रेस के सदस्य कुछ वकील ज़मींदार तथा सरकार द्वारा सम्मानित श्रीमन्त हुआ करते थे। वे सब वर्ष में एक बार सम्मिलित होते थे और 'God save the King' का गीत गाकर, नौकरियों और धारा-सभाओं में भारतीयों की संख्या बढ़ाने के एक-दो प्रस्ताव पास करके सन्तोष मान लेते थे। यही उस समय का राजनीतिक कार्य था। तिलक ने कांग्रेस को इस तिरस्कार-भरी नीति से हटाकर युद्ध का मार्ग दिखलाया। उनका मन्तव्य था कि स्वराज्य भिक्षा मांगने से नहीं, बल्कि लड़कर मिलेगा। कांग्रेस में तिलक के प्रवेश के बाद ही कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य-प्राप्ति निश्चित किया गया। कांग्रेस को स्वतन्त्रता के युद्ध की संस्था बनाने का आदि-कार्य तिलक ने ही किया था।

बाल गंगाधर तिलक का जन्म महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के एक-गाव में पं० गंगाधर रामचन्द्र नाम के विद्वान् अध्यापक के घर हुआ था। बचपन में ही आपको पितृ-वियोग का दुःख सहना पडा। माता ने बड़े कष्टों से आपकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। पढ़ाई में कुशल होने से कुछ छात्र-वृत्तियाँ भी मिलीं। स्वयं परिश्रम करके भी आपने शिक्षा का व्यय उठाया। अन्त मे १८७६ मे आपने बी०ए०, एल० एल० बी० की परीक्षा पास कर ली।

उन दिनों इस पदवी का बडा मान था। वकालत में सम्मान भी था और धन भी। आप चाहते तो वकालत का काम करके आराम और शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकते थे। किन्तु तिलक के मन में शान्ति और सुरक्षा के स्थान पर साहस और सेवा की भावनायें भरी थीं। अतः उन्होंने अपने लिये धन का मार्ग नहीं, बल्कि सेवा का मार्ग चुना। वकालत का काम छोडकर आप शिक्षा के क्षेत्र में आगये।

उन दिनो पूना मे श्री चिपलूणकर, नामजोशी, आप्टे और आगरकर नाम के चार समाज-सेवी शिक्षित व्यक्तियों ने 'इंगिलश स्कूल'-नाम की शिक्षा-संस्था खोली थी। इस स्कूल का ध्येय कम फ़ीस में- ऊँची शिक्षा देना था। तिलक भी इन चारो मित्रों के साथ होगए और नाम-मात्र का वेतन लेकर स्कूल के शिक्षक बन गए। पान्चो मित्रो की सहायता से स्कूल का यश सम्पूर्ण महाराष्ट्र मे फैल गया।

स्कूल खोलने का वास्तविक लक्ष्य जनता में राजनीतिक चेतना जागृत करने का था। तिलक ने जब यह देखा कि स्कूल केवल इस ध्येय के आशिक भाग को पूरा कर रहा है तब उन्होंने शेष भाग की पूर्ति के लिये समाचार-पत्रो का सहारा लिया। आपने मित्रों की सहा-

यता से 'केसरी' नाम के मराठी दैनिक और 'मराठा' नाम के अंग्रेजी साप्ताहिक को जन्म दिया। इन पत्रों ने महाराष्ट्र में राजनीतिक चेतना जागृत करने में अनुपम कार्य किया। 'केसरी' के निर्भीक लेखों ने सोई हुई जनता को जगा दिया। इन पत्रों ने सरकार की अन्यायपूर्ण नीति का विरोध भी बिना भय व पक्षपात के किया। इससे पूर्व सरकार के विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस कोई पत्र नहीं कर सका था। लोकमान्य तिलक निःस्वार्थ देश-सेवा कर रहे थे—इसलिए उन्हें किसी से डरने का कारण नहीं था। सरकार के अन्यायपूर्ण कार्यों की आपने कड़ी आलोचना की। सरकार भी आप पर अकुश का प्रहार करने का अवसर देखने लगी।

अन्त में सरकार ने यह प्रहार कर ही दिया। उस प्रहार ने 'केसरी' और तिलक का यश सारे महाराष्ट्र में ही नहीं, सारे देश मे फैला दिया। 'केसरी' ने एक अंक मे कोल्हापुर के अंग्रेज दीवान की कड़े शब्दो मे निन्दा की थी। दीवान ने 'केसरी' के सम्पादको पर मानहानि का दावा कर दिया। तिलक और उनके साथी आगरकर को चार महीने की क़ैद हुई। जेल से आकर लोकमान्य ने 'इंग्लिश स्कूल' के काम को बहुत बढ़ाया। फर्गुसन कॉलेज' भी खोला। 'दक्खिन एजुकेशनल सोसायटी' की स्थापना भी की। यह सोसायटी इन शिक्षण-संस्थाओं का प्रबंध करती थी। चार-पाच वर्ष तक इस सोसायटी से सम्बन्ध रहने के बाद आगरकर तथा अन्य मित्रों से मत-भेद हो जाने के कारण आपने सोसायटी से त्यागपत्र दे दिया।

सोसायटी से सम्बन्ध तोड़कर आप राजनीतिक कार्यों में पूर्ण तत्परता से लग गए। आपकी योजनाओं से सारे महाराष्ट्र में चैतन्यता की एक लहर सी दौड़ गई। महाराष्ट्र का बच्चा-बच्चा स्वतन्त्रता के गीत गाने लगा।

इन योजनाओं में सबसे प्रथम शिवाजी-उत्सव मनाने की योजना थी। महाराष्ट्र से पेशवाओं के साम्राज्य का अस्त हुए अधिक दिन नहीं बीते थे। शिवाजी की गौरव-गाथायें भी अभी जनमात्र के हृदय में बसी हुई थीं। तिलक भी शिवाजी के भक्तों मे से थे। उन्होंने महाराष्ट्र-भर में शिवाजी-उत्सव का विशाल रूप में आयोजन किया। इन में अपने पूर्व-गौरव की याद करके लोगों का हृदय नए उत्साह से भर जाता था। लोकमान्य तिलक की भाषा में शिवाजी का अर्थ-देश-प्रेम, स्वाधीनता, स्वाभिमान और जागृति था। ये उत्सव बहुत जल्दी महाराष्ट्र के जीवन का अग बन गए। लोकमान्य को इन उत्सवों को राजनीतिक उद्देश्य-पूर्ति का प्रबल साधन बनाने में पूरी सफलता मिली। गणेशोत्सव द्वारा भी आपने राजनीतिक भावनाओं का प्रचार किया। गणेशजन्म का उत्सव महाराष्ट्र में घर-घर मनाया जाता है। उस उत्सव को भी लोकमान्य ने राजनीतिक रग दे दिया था।

अपने राष्ट्रीय कार्यों के कारण धीरे-धीरे तिलक का परिचय अन्य राष्ट्रीय कर्णधारों से भी होता गया। कांग्रेस के कार्यों में भी आप सहयोग देने लगे। कांग्रेस ने आपको दक्षिण भारत की कांग्रेस-कमेटी का मन्त्री चुना। बम्बई के कांग्रेस-सम्बन्धित कामों में भी आप बड़े उत्साह से भाग लेते रहे। और जब १६०६ में कांग्रेस का अधिवेशन पूना मे हुआ तो आप मन्त्री चुने गए। किन्तु, बाद मे सहयोगियों के बीच आपसी मतभेद होने के कारण आपने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया।

कांग्रेस से सम्बन्ध रहने के साथ-साथ आप बम्बई धारा-सभा के और म्युनिसिपल कार्पोरेशन के सदस्य भी बने। इन पदों पर रहकर आपने महत्वपूर्ण नागरिक सेवायें कीं। १८६६ई० मे महाराष्ट्र में भयानक प्लेग की बीमारी फूट पड़ी। प्रतिदिन हजारों व्यक्तियों की मृत्यु

होने लगी। अंग्रेज़ी-सरकार ने प्लेग रोकने के लिये न तो स्वयं कोई काम किया और न ही जनता के स्वयंसेवकों को काम करने दिया। सरकार के इस व्यवहार की कड़ी आलोचना लोकमान्य ने अपने पत्र 'केसरी' में की। सरकारी अधिकारी इन लेखों के कारण आपसे चिढ़ गये और बदला लेने का अवसर खोजने लगे।

वह अवसर उन्हें तब मिला जब महाराष्ट्र के दो नौजवानों ने पूना मे महारानी विक्टोरिया की हीरक-जयन्ती के उत्सव मे भाग लेते हुए प्लेग-कमिश्नर मिस्टर रैंड और एक अन्य अंग्रेज अफसर का वध कर दिया। सरकार ने यह अभियोग लगाकर कि तिलक के इन अफ़सरों के विरुद्ध लिखे लेख ही इन हत्याओं के उत्तेजक हैं, उन्तीस जून को तिलक को गिरफ्तार कर लिया गया। अदालत ने आपको १६ महीने की कैद का दण्ड सुनाया। इस अन्यायपूर्ण आज्ञा के विरुद्ध देशभर मे प्रबल असन्तोष फैल गया।

इसके बाद १९०५ में बंगभंग के आन्दोलन में भी आपने बंगाल का साथ दिया। बनारस के कांग्रेस अधिवेशन में आपने बंग-भंग का घोर विरोध किया। अगला अधिवेशन कलकत्ता में होने वाला था। बंगालके नेता श्री विपिनचन्द्र पाल, लोकमान्य तिलक को इस अधिवेशन के अध्यक्ष बनाना चाहते थे, किन्तु गोखले तथा अन्य नरमदली नेताओं ने तिलक के सभापति बनने का विरोध किया। वे तिलक के क्रांतिकारी विचारों से डरते थे। इस प्रश्न पर कांग्रेस के दोनों दलों का विरोध इतना बढ़ गया कि कांग्रेस प्रकट रूप से दो नरम और गरम दलों से बँट गई। अंत में दादाभाई नौरोज़ी इस अधिवेशन के प्रधान बने। दादाभाई दोनों के मान्य नेता थे। दादाभाई ने दोनों दलों में एकता कराने का बहुत यत्न किया, किन्तु सफलता नहीं मिली।

यह मतभेद बढ़ता ही गया। नागपुर का अधिवेशन इन्हीं झगड़ों में स्थगित करना पडा। सूरत मे फिर दोनों दलों की लड़ाई होगई। लोकमान्य जब भाषण देने खडे हुए तो किसी ने आप पर जूता फैंका। तिलक शात भाव से खडे रहे, किन्तु प्रतिनिधियों मे हाथा-पाई शुरू होगई।

इन घटनाओं से खिन्न होकर लोकमान्य तिलक काग्रेस के संग-ठन से अलग होगये। बाद मे श्रीमती एनीबेसेंट से मिलकर आपने होमरूल-लीग की स्थनना की। आठ-नौ वर्ष तक आप काग्रेस से बिल्कुल पृथक् रहकर होमरूल-लीग का ही काम करते रहे। काग्रेस नरम-दली नेताओं के हाथ में रही।

सरकार ने काग्रेस की इस फूट का लाभ उठाकर गरम-दल को कुचलना चाहा। उन दिनों सरकार की दमन-नीति के विरोध मे क्राति-कारी-दल भी संगठित होरहा था। तीस अप्रैल १९०८ में बंगाली क्रातिकारी खुदीराम बोस ने एक सरकारी अफ़सर पर बम फेंका। सरकार ने इसका सम्बन्ध गरम-दल के नेताओं से जोड़ना चाहा। लोकमान्य के घर की भी तलाशी हुई। उन्हें पकड लिया गया। तिलक के घर की तलाशी में सरकार के हाथ एक कार्ड आगया जिस पर 'फासफोरस' के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकों के नाम लिखे थे। इस आधार पर पुलिस ने यह सिद्ध करना चाहा कि तिलक क्रातिकारियों के साथ हैं। अंग्रेज जजों ने इस अपराध में तिलक को छः साल-काले पानी का दण्ड सुनाया।

इस समाचार से देश भर की जनता में क्रोध और असन्तोष की लहर दौड गई। बम्बई तथा अन्य अनेक शहरों मे कई दिन तक हड़-ताल रही। जनता का तीव्र असन्तोष देखकर गवर्नर ने काले पानी की आज्ञा को साधारण कैद की आज्ञा मे बदल दिया। पहले आप अह-

मदाबाद की जेल मे रखे गये, बाद में बर्मा की माडले जेल में भेज दिये गए। माडले जेल में रहकर ही आपने 'गीता रहस्य' की रचना की। माडले का जलवायु आपके अनुकूल नहीं था, आप अस्वस्थ हो-गये। पास में कोई अपना नहीं था। अकेले ही जेल की कठोर यात-नाएँ सहते रहे । बाद में इंग्लैंड के कुछ विद्वानों के अनुरोध ने ब्रिटिश-सरकार को आपकी मुक्ति के लिये विवशकर दिया। १९१४ई० मे आप जेल से छूटे। जिस दिन आप जेल से छूटकर अचानक ही पूना पहुँचे, उस दिन सारे महाराष्ट्र में दीवाली मनाई गई ।

उस वर्ष पहला विश्वयुद्ध शुरू होगया था। नरम-दल के नेता तथा स्वय गाधीजी (जो उस समय गोखले के प्रभाव में थे) युद्ध मे अँग्रेजों की सहायता कर रहे थे। तिलक इस सहायता के विरुद्ध थे । उन्होंने कहा कि यदि अँग्रेज वास्तव मे प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये लड़ रहे हैं तो पहले भारत में स्वतन्त्र प्रजातन्त्र की स्थापना करें । जनता पूरी तरह तिलक के साथ थी—किन्तु, तिलक को दो पक्षों का सामना करना पड़ रहा था, अँग्रेजों का और नरम-दल वालों का । समझौते के कई प्रयत्न हुए, किन्तु सब विफल रहे । अन्त मे नरम-दल वाले गरम-दल वालों को कांग्रेस मे सम्मिलित करने पर सहमत होगए। परिणामस्वरूप १९१६ के लखनऊ अधिवेशन में लोकमान्य तिलक भी कांग्रेस के अधिवेशन मे सम्मिलित हुए।

इस अधिवेशन मे लोकमान्य का मुख्य स्वागत हुआ। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' इस आदर्श पर आपने उस समय जो भाषण दिया था वह इतिहास मे अमर रहेगा। तिलक की तेजस्विता ने नरम-दल के नेताओं का प्रभाव मन्द कर दिया। उनकी नीति समय से बहुत पिछड़ी हुई मालूम होने लगी। तिलक के सम्मिलित होते ही कांग्रेस ने स्वराज्य का आंदोलन बड़े वेग से शुरू कर दिया । श्रीमती

एनीबेसेएट ने भी इस आंदोलन मे भाग लिया । वह इस आंदोलन को लण्दन पहुंचाना चाहती थीं । लोकमान्य तिलक भी भारत के शिष्ट-मण्डल द्वारा ब्रिटेन के लोकमत को भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में करने के पक्षपाती थे । शिष्टमण्डल की योजना भी बनाई गई, किंतु भारत सरकार ने इंग्लैंड जाने की अनुमति नहीं दी।

शिष्टमण्डल लेकर तो इंग्लैंड जाने का अवसर तिलक को नहीं मिला, किन्तु एक-दूसरे प्रकरण मे उन्हें इंग्लैंड जाना पडा । एक अंग्रेज पत्रकार वेलन्टाइन शिरोल ने 'Unrest in India' (भारत मे अशाति) नाम से एक पुस्तक लिखते हुए तिलक पर कुछ अपमान-जनक आरोप लगाये थे। लोकमान्य ने उस पत्रकार पर मान-हानि का मुकदमा चलाया। मुकदमा इंग्लैंड मे चलाया गया—इसलिये आपको इंग्लैंड जाना पडा। इस मुकदमे में तिलक की विजय नहीं हुई, अदालत से न्याय नहीं मिला, किन्तु इस मुकदमे में तिलक ने जो विद्वत्तापूर्ण वक्तव्य दिये थे, उन्हें पढकर इंग्लैंड के राजनीतिज्ञों का ध्यान तिलक की ओर आकृष्ट हुआ। स्वय वेलन्टाइन शिरोल को भी तिलक की महानता को स्वीकार करना पडा और मुकदमे के अन्त में उसने तिलक को श्रद्धांजलि दी।

आप इंग्लैंड में थे कि भारत-सरकार ने रौलट-ऐक्ट पास कर दिया, जिसका विरोध भारत के सब दलों और नेताओं ने किया। गाधीजी के नेतृत्व में सारा देश असहयोग-आदोलन के लिये तैयार होगया । इंग्लैंड से वापिस आकर आप सीधे अमृतसर में कांग्रेस-अधिवेशन में भाग लेने के लिये पहुँच गये। आपके भाषणों का प्रभाव जनता पर बहुत गहरा पड़ा । इस अधिवेशन में कहा गया उनका एक वाक्य अमर बन गया—"स्वतन्त्रता मांगने से नहीं मिलती, उसे छीनना पडता है।"

कठिन श्रम और जेल की यन्त्रणाओं ने आपके स्वास्थ्य को बहुत जर्जरित कर दिया था। जब बम्बई में आपकी ६३ वीं वर्षगांठ मनाई जा रही थी, तब सहसा आपका स्वास्थ्य खराब होगया। डाक्टरों के अनथक प्रयत्नोंके बाद भी आप नहीं बच सके। इकतीस जुलाईकी रात को बारह बजकर चालीस मिनट पर आपकी जीवन-यात्रा पूरी होगई।

आपकी मृत्यु के समाचार से सारे देश में अँधेरा-सा छा गया। कई दिन तक शहरों में हड़ताल रही। आपकी शव-यात्रा के समय जितनी भीड़ थी उतनी तब तक किसी शव-यात्रा के साथ नहीं हुई थी। आपका अन्त्येष्टि-संस्कार चौपाटी के समुद्र-तट पर हुआ। वहाँ आज भी उनकी एक मूर्त्ति स्थापित है।

मृत्यु के समय आपकी जिह्वा पर गीता का निम्नलिखित श्लोक था :—

"परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे॥"

तिलक गीता के भक्त थे। मांडले जेल में आपने गीता का भाष्य करते हुए एक हजार पृष्ठों का ग्रंथ लिखा था। आप गीता का नियमित पाठ करते थे। स्वयं आपने अपने अनुभव लिखते हुए एक स्थान पर लिखा है :—"मेरे जीवन का कोई ही दिन ऐसा गया होगा, जिस दिन मैंने गीता के किसी श्लोक का मनन न किया हो।" उनके अनुसार गीता का सन्देश संक्षेप में यह है :—"इस जग मे जो कोई कार्य और व्यवहार मैं करता हूँ, वह मेरा नहीं ईश्वर-निर्मित है। स्वार्थ-बुद्धि या अहंकार द्वारा किया हुआ काम ही दुःख व बन्धन का कारण होता है। ईश्वर ने मुझे इसलिए जन्म दिया है कि मैं निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहूँ; जो करूँ, वह अपने लिए नहीं, परमेश्वर को अर्पण करने के लिए ही करूँ।"

लोकमान्य तिलक की गणना विश्व के ऐतिहासिकों में भी थी। वेद-काल का निर्णय करते हुए उन्होंने एक निबन्ध लिखा था: इससे वेदों का निर्माणकाल ५००० वर्ष पूर्व निर्धारित किया था। आपने यह भी लिखा था कि आर्य लोग पहले ध्रुव प्रदेशों में रहते थे। आर्यों के मूल स्थान के विषय में आपकी सम्मति को प्रामाणिक माना गया था।

लोकमान्य ने देश में राष्ट्रीय चैतन्यता को जगाने का अनुपम कार्य किया था। इसलिये राष्ट्र-निर्माताओं में उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय : ८

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय और लोकमान्य तिलक ने ही सबसे पहले देश को यह पाठ सिखाया था कि आज़ादी मांगने से नहीं मिलेगी, प्रार्थनाओं और प्रस्तावों से नहीं मिलेगी; आज़ादी के लिए लड़ना होगा, क़ुर्बानी करनी होगी, और खून देना होता।

जीवन-भर वीरतापूर्वक लड़ने के कारण ही आपको देश ने 'पंजाब का शेर' कहा था। शेर की वीरता उसकी देह की विशालता में नहीं, बल्कि दिल की दिलेरी में होती है। वह निर्भय होता है, साहसी होता है और किसी के सामने झुकना नहीं जानता। इन गुणों से ही शेर, शेर कहलाता है। पंजाब के शेर लाला लाजपतराय में भी ये सभी गुण मौजूद थे।

जन्म से लाजपतराय साधारण घर के थे। आजीविका के लिए आपने वकालत पास की, लेकिन कभी भी आपने वकालत से धन कमाकर आराम से बैठने की इच्छा नहीं की। धन कमाने में उनकी रुचि नहीं थी। जन्म से वैश्य होकर भी आपकी नसों में क्षत्रियोचित खून बह रहा था। प्रकृति से ही आप सदा दूसरों के सहायक और सेवक रहे। जन्म-भर आप देश और जनता की सेवा करते रहे।

आप अपने जन्म-स्थान हिसार से १८९२ में लाहौर आये तो वकालत करते थे, किंतु आपका अधिकांश समय आर्यसमाज के शिक्षणात्मक तथा सुधार-सम्बंधी कार्यों को सफल बनाने में बीतता था। उन दिनों पंजाब में आर्यसमाज ही सार्वजनिक कार्यों में अग्रणी सभा थी। पंजाब के सभी उत्कृष्ट नवयुवक आर्यसमाज के प्रगतिशील

आदर्शों और नयी सुधार-योजनाओं से आकृष्ट हो रहे थे। लाला हँसराज ने अपने जीवन की बलि देकर दयानन्द-ऐंग्लो वैदिक कालेज का बीज बोया था। लाला लाजपतराय ने इसके संस्थापन में क्रियात्मक योग दिया था। समाजों के उत्सव प्रतिवर्ष होते थे। उनमें अपने ओजस्वी भाषणों से लाला लाजपतराय धन-संग्रह का कार्य करते थे। प्रांतों के हिस्सों में घूम-घूमकर भी आपने कालेज की नींव को मजबूत बनाने मे अनथक काम किया। उनकी भाषण-शैली पर जनता मुग्ध थी। उनकी सिंह-गर्जना श्रोताओं के दिल पर जादू का असर करती थीं उनसे प्रभावित होकर पुरुष अपनी जेबें खाली कर देते थे, स्त्रियाँ आभूषण उतारकर प्रसन्नतापूर्वक दान कर देती थीं। किसी ऊँचे लक्ष्य के लिए किया हुआ त्याग राष्ट्रीय चेतना को स्वयं जगाता है। लाला लाजपतराय ने जनता को त्याग करना सिखाया।

समाज के सुधार-सम्बन्धी कामों में भी आपने तनमन लगा दिया। बाद मे लाला लाजपतराय का क्षेत्र आर्यसमाज से बदलकर राजनीति होगया; किंतु उनकी सेवाओं के ऋण से समाज कभी मुक्त नहीं हो सकता। पंजाब में आर्यसमाज को कल्पनातीत सफलता देने में लाला लाजपतराय का बड़ा हाथ था।

आपका कांग्रेस से पहला सम्पर्क तब हुआ जब १८८८ ई० में कांग्रेस का अधिवेशन इलाहाबाद में हो रहा था। उस समय आप अभी नौजवान थे। आपने उन दिनों "सरसैयद अहमद के नाम खुला पत्र" लिखा था। उसे छपवाकर आप अपने हाथों से उसे कांग्रेस अधिवेशन में बाँट रहे थे।

तब से पाँच वर्ष बाद १८९३ ई० मे कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ। इसके सभापति बने दादाभाई नौरोजी, जो उस समय ब्रिटिश-पार्लियामेंट में प्रथम भारतीय सदस्य थे। स्वागत-समिति के अध्यक्ष

थे सरदार दयालसिंह मजीठिया। लाला लाजपतराय तब स्वागतसमिति के मन्त्री नहीं थे, किंतु सारा काम आप ही कर रहे थे। उस समय भी आप कांग्रेस के उत्साही स्वयंसेवक थे।

वकालत का काम करने के बाद जो समय शेष रह जाता था, उसे वह दयानन्द-ऐंग्लोवैदिक कालेज के अर्पण कर देते थे। कालेज-कमेटी के मन्त्री आप ही थे। इसके अतिरिक्त उन्हें राजनीतिक लेख लिखने का भी व्यसन था। 'ट्रिब्यून' में आप उस समय के प्रश्नों पर प्रायः प्रति-सप्ताह अपनी सम्मति लिखा करते थे। कष्टपीड़ितों की सहायता में वह कभी नहीं चूकते थे। पंजाब में दुर्भिक्ष पड़ने पर आपने कांगड़ा और कुमायूं के जिलों का दौरा किया और सहायता पहुँचाई। दुर्भिक्ष-ग्रस्त परिवारों के अनाथ बालकों के लिये आपने कई अनाथालय खुलवाए। फिरोजपुर के अनाथालय की नींव आपने ही रखी। आपके भाषणों में श्रोताओं को मुग्ध करने की शक्ति थी। उर्दू के आप धाराप्रवाह वक्ता थे। अंग्रेजी पर भी आपका पूरा अधिकार था। इसलिए सामान्य जनता और विद्वानों में, दोनों जगह आपका सम्मान होता था।

राष्ट्रीय कार्यों में योग देने के बाद आपको कांग्रेस की इस नीति से ही सन्तोष नहीं था कि वर्ष में एक बार बड़े दिनों की छुट्टियों में इने-गिने नेता मिलकर कुछ प्रस्ताव पास कर लिया करें। आपकी इच्छा थी कि कांग्रेस जनता के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करे। यह तभी सम्भव था कि जब कांग्रेस जनता के कष्टों में सहानुभूति और सहायता का काम करती। आप स्वयं जनता के कष्टों की चिन्ता रखते थे और यथाशक्ति सहायता पहुँचाते थे।

राष्ट्रीय दृष्टि से जनता के साथ सम्पर्क बनाने के काम को अंग्रेजी सरकार के अफसर पसन्द नहीं करते थे किन्तु लाजपतराय को

उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता की चिन्ता नहीं थी। आखिर वह दिन भी आ गया जब जनता के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का फल आपको सरकार का कोपभाजन बनकर भुगतना पड़ा। रावलपिंडी के किसानों को सरकार की लगान-वृद्धि की नीति से असन्तोष था। किसानों ने रावलपिंडी के वकीलों की सहायता ली। वकीलों ने किसानों का पक्ष लिया। लाजपतराय भी किसानों की पैरवी करने लाहौर से रावलपिंडी गये। वहाँ जिला मैजिस्ट्रेट से कहा-सुनी होगई। लालाजी अपमान सहने वाले व्यक्ति नहीं थे। मैजिस्ट्रेट के उत्तर में आपने भी कड़े शब्द कह दिये। मैजिस्ट्रेट ने रावलपिंडी के वकीलों को गिरफ्तार करके जेल भिजवा दिया। लाजपतराय पर उस समय तो कोई अभियोग नहीं लगाया गया, किन्तु बाद मे 'बगाल रेगुलेशन' के अनुसार गिरफ्तार कर लिया गया। रावलपिंडी के वकीलों के मामले की जाच पजाब हाईकोर्ट के जज मि० माटेग्यू ने की, जिसने उन सब को छोड़ दिया। किन्तु लाला लाजपतराय को गिरफ्तार करके माडले भेज दिया गया। किस भयकर अपराध पर उन्हे देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया, यह प्रश्न अभी तक रहस्यमय बना हुआ है। प्रत्यक्ष रूप से लाला लाजपतराय पर कोई अभियोग नहीं था। केवल पंजाब-सरकार की कल्पना मे ही लालाजी भयानक राजद्रोही थे। राजद्रोह की कोई घटना प्रामाणिक रूप से पेश नहीं की जा सकती थी।

प्रत्यक्ष कारणों मे केवल यही कारण था कि लाजपतराय कांग्रेस के नरमदली नेताओं से असन्तुष्ट थे। लोकमान्य तिलक के साथ मिलकर स्वराज्य के लिए जनता मे जागृति उत्पन्न करने का समर्थन कर रहे थे। लोकमान्य को भी सरकार ने पूना मे आतंकवादियों के पुष्ट-पोषक होने के कल्पित अभियोग में पकड़ा था। लाला लाजपतराय को भी इसी कल्पित अभियोग में गिरफ्तार कर लिया गया था।

सरकार के इस एक ही काम से लाला जी देश के प्रथम श्रेणी के नेताओं में गिने जाने लगे। जितना प्रसिद्धि पाने में उन्हें शायद दस-पन्द्रह वर्ष लग जाते, उतनी उन्हें सरकार की कृपा से दस-दिन में प्राप्त हो-गई। देश में असन्तोष की आंधी-सी चल गई। न्याय के लिए लंडन के दरवाजे खटखटाए गए। लंडन से पूछ-ताछ हुई। भारत के अंग्रेज़ अफ़सर इस काम का कोई सन्तोषजनक कारण पेश नहीं कर सके। परिणामतः भारत-सचिव ने लाला लाजपतराय की नज़र-बन्दी को युक्तियुक्त न मानकर जेल से मुक्त करने का आदेश दिया। छः महीने के प्रवास के बाद सहसा लाला जी को लाहौर लाकर छोड़ दिया गया। उस दिन से लाला जी पंजाब के ही नहीं, देशभर के यशस्वी नेता बन गये। माडले के प्रवास ने लाला लाजपतराय के जीवन में युगान्तर कर दिया।

माडले की यात्रा के बाद व्यक्तित्व में चमत्कारी प्रभाव आगया। उनके शब्दों में विलक्षण शक्ति आगई। उनकी राष्ट्रीयता में ओजस्विता भर गई। उनकी प्रतिष्ठा कांग्रेस के गण्यमान्य नेता भी करने लगे। अगले ही वर्ष उन्हें कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए निमन्त्रण दिया गया। किन्तु गोखले आदि नरम-दल के नेताओं के विरोध से आप सभापति नहीं बन सके। आप गरमदल के नेता थे। अगले कुछ वर्ष नरम-गरम दल के नेताओं का संघर्ष चलता रहा। १९१६ में लखनऊ कांग्रेस तक आपने और लोकमान्य तिलक ने कांग्रेस में विशेष भाग नहीं लिया। १९१६ में दोनों दलों का सम-झौता होगया। कांग्रेस का लक्ष्य भारत के लिए 'औपनिवेशिक स्वराज्य' प्राप्त करना स्वीकार कर लिया गया।

इन दिनों लाला लाजपतराय ने विदेशों में भ्रमण किया। पहले आप इंग्लैंड गए। वहां से अमेरिका गए। अमेरिका में आपने

भारत की स्वाधीनता के लिए अनुकूल लोकमत बनाने के क.ं प्रयत्न किए। अमेरिका के लोकमत को ब्रिटिश साम्राज्यनीति के विरुद्ध उकसाने तथा भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में करने के लिए आपने साहित्य द्वारा बहुत प्रचार किया, अनेक भाषण दिए, अमेरिका के प्रमुख राजनीतिज्ञों से भेंट की और भारतीयों के प्रति सहानुभूति प्राप्त की।

यह सब काम आप बिना विशेष आर्थिक सहायता के कर रहे थे। स्वयं आर्थिक कष्ट में होते हुए भी आप भारतीय स्वाधीनता के लिए यथाशक्ति समय और धन व्यय कर रहे थे। भारत मे उस समय लोकमान्य तिलक ने डाक्टर एनीबेसेन्ट के साथ होमरूल-लीग की स्थापना की थी। लीग की ओर से एक शिष्टमंडल विदेशों मे भारतीय पक्ष के प्रचार के लिये जाने वाला था। ब्रिटिश सरकार ने इस शिष्टमण्डल को विदेशों में जाने की आज्ञा नहीं दी। तब लोकमान्य ने अमेरिका मे लाला लाजपतराय को इस कार्य के लिये लिखा और भारत से आर्थिक सहायता का प्रबंध भी किया। यह सहायता पाकर आपने द्विगुण उत्साह से अमेरिका में प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्हीं दिनों इस प्रचार के विरोध मे ब्रिटिश सरकार ने एक अमरीकन लेखिका मिस मेयो द्वारा भारतीय विरोधी पुस्तक 'मदर इण्डिया' लिखवाई। लाला लाजपतराय ने उसके उत्तर में पुस्तक लिखकर मिस मेयो की कालिख को धोने का सफल प्रयत्न किया।

लाला लाजपतराय के कार्यों का विवरण ब्रिटेन और भारत भी पहुँचता रहा। ब्रिटिश सरकार दाँत पीसकर रह जाती थी। इसका बदला उसने तब लिया जब लाला लाजपतराय ने अमेरिका से भारत आने की आज्ञा मांगी। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें इंग्लैंड या भारत

किसी भी देश मे प्रवेश करने की आज्ञा नहीं दी। दोनो देशों के द्वार आप के लिए बंद कर दिए गए, परिणाम यह हुआ कि युद्धकाल मे आपको अमेरिका मे ही रहना पड़ा।

युद्ध के बाद भारत मे जब ब्रिटिश सरकार ने युद्ध में भारत की युद्ध-संबंधी-सेवाओं का पुरस्कार रौलट-एक्ट जैसे काले कानून से दिया और उसके प्रतिवाद में की गई सभाओं मे निहत्थे लोगों को गोलियों से भूना गया, अमृतसर के जलियाँवाला बाग की भूमि निर्दोष स्त्री-पुरुषों के रक्त से लाल होगई; तब भी लाजपतराय को अपने प्रान्त के देश-भाइयों के आँसू पोछने के लिए भारत मे आने की आज्ञा नहीं दी गई। इस निषेध का कोई प्रगट कारण नहीं बतलाया गया। भारत की लेजिस्लेटिव असेम्बली मे कई बार प्रश्न किए गए :—

"Why was not Lajpat Rai allowed to return to India ?" 'लाला लाजपतराय को भारत वापिस आने की आज्ञा क्यों नही दी गई ?'

इसके उत्तर मे प्रायः एक मुहावरा बोला गया:--

"It would not be in the public interest to let him come back"

'सार्वजनिक हित की दृष्टि से उनका वापिस आना अभीष्ट नहीं था।'

इस प्रश्न का कभी स्पष्टीकरण नही हुआ कि लाला लाजपतराय के किन कार्यों ने उन्हे सरकार की दृष्टि में अपने देश में जाने के अयोग्य बना दिया था। अन्त में लाला जी के अनेक अमेरिका व ब्रिटेन स्थित प्रभावशाली मित्रों के दबाव से लाला जी को अपने देश में वापिस जाने की आज्ञा दी गई।

यहाँ आकर वह असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित होगए।

स्वास्थ्य खराब होते हुए भी आपने कई बार जेल-यात्रा की। स्व-राज्य-दल की स्थापना पर आपने पंडित मोतीलाल जी का साथ दिया। उनके भाषणों को सदैव बहुत ध्यान से सुना गया। असेम्बली में उनकी गर्जना की गूँज बाहर तक जाती थी।

बाद में पं० मोतीलाल जी से किन्ही प्रश्नों पर मत-भेद होने के कारण आपने पं० मदनमोहन मालवीय से मिलकर 'स्वतंत्र-राष्ट्रीय-दल' बनाया, आपका विश्वास था कि हमे हिंदू समाज की आन्तरिक निर्बलताओं को सुधारते हुए ही आगे बढ़ना चाहिए। मोतीलालजी विशुद्ध राजनीतिक थे। यह मत-भेद इतना बढ़ गया था कि दोनों दलों ने निर्वाचन के समय अपने अलग-अलग प्रतिनिधि खडे किए। लाला लाजपतराय दो स्थानों से उम्मेदवार खड़े हुए और दोनो स्थानों से चुने गए।

उन दिनों आपने राष्ट्र-सेवक नवयुवकों का दल तैयार करने के लिए लाहौर मे 'लोक सेवक-संघ' की स्थापना की। इसका कार्यक्रम गोखले द्वारा संस्थापित 'सर्वेंट आफ इंडिया सोसायटी' के अनुसार था। 'तिलक स्कूल' नाम से आपने एक राष्ट्रीय शिक्षणालय भी खोला। लोकमान्य तिलक को आप बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे। दोनों नेताओं के दृष्टिकोण में बहुत समानता थी।

उन्हीं दिनों आपने उर्दू में 'वन्देमातरम्' नाम से दैनिक और अंग्रेजी में 'पीपल्स' नाम से साप्ताहिक-पत्र भी आरंभ किए। दोनो पत्रों की नीति विशुद्ध राष्ट्रीय-नीति थी।

जन्म-भर जनता की सेवा में जीवन बिताने के बाद पंजाब केसरी ने अपने प्राणों की आहुति भी इसी लोक-यज्ञ की पूर्ति मे दे दी। उस दिन साइमन कमीशन के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिये लाहौर की जनता लाहौर-रलवे स्टेशन की ओर उमड़ पड़ी थी।

लालाजी सबके आगे थे। हथियार-बंद पुलिस ने चारों ओर से जनता को घेर लिया था। कमीशन के आने पर जनता ने काले झण्डों से कमीशन का स्वागत किया। पुलिस ने निर्दयता से लाठियाँ बरसाईं। लाला लाजपतराय का स्वास्थ्य पहिले ही कुछ अच्छा नहीं था। फिर भी आपने जनता का साथ दिया। लाठियाँ बरसने पर आपके कंधों और सीने पर भी लाठियों की बौछार हुई। आप घायल होगये। यह घाव आपके सीने पर ही नहीं, दिल पर भी लगा था। पंजाब का शेर इस अपमानपूर्ण आघात से छटपटाकर रह गया। उसके इशारे पर पंजाब के नौजवान खून की नदियाँ बहा सकते थे किन्तु उसने तो अहिंसा का व्रत लिया था। यह घाव बाहर न फूटकर अन्दर ही अन्दर गहरा होता गया और अन्त मे उसने पंजाब-केसरी के प्राण ले लिए।

सच तो यह है कि लाला लाजपतराय पंजाब सरकार के हाथों शहीद होगए। उनका बलिदान रणभूमि में आहत वीरों की तरह हुआ। जैसा वीरतापूर्ण जीवन था, वैसी ही वीरता-भरी मृत्यु भी हुई।

बीसवीं शताब्दि के प्रथम पचास वर्षों का भारत का इतिहास गांधी और रवीन्द्र, इन दोनों की जीवन-गाथाओं का ही इतिहास है। भारत के अतिरिक्त संसार के सब देशों में भी रवीन्द्र, गांधीजी के समान ही प्रसिद्ध है। कैसरलिंग ने उनके विषय में ठीक ही कहा था, "वे सबसे अधिक सार्वभौमिक और पूर्ण मानव थे।" उनके द्वारा स्थापित शांति-निकेतन भारतीय संस्कृति की सभी ललित-कलाओं का केन्द्र है। वहां का सरस, दार्शनिक-जीवन समस्त संसार के लिये आकर्षण-केन्द्र है।

रवीन्द्र का ठाकुर-परिवार बंगाल के प्राचीन और कला-प्रेमी परिवारों में गिना जाता है। उनके पूर्वज 'बनर्जी', ब्राह्मण जमींदार थे। ग्राम निवासी उन्हें 'ठाकुरदा' कहते थे। यही नाम बिगड़ते-बिगड़ते टैगोर होगया। यह परिवार १९ वीं शताब्दि में बंगाल की चित्रकारी, ललित-कलाओं तथा साहित्य-संबन्धी सभी विकास कार्यों में बड़ा योग देता रहा है। रवीन्द्र के पिता श्री देवेन्द्रनाथ और पितामह श्री द्वारिकानाथ ठाकुर ने राजा राममोहनराय द्वारा स्थापित ब्राह्म-समाज का नेतृत्व ग्रहण कर बंगाल के सोये हिन्दुत्व को प्रगतिशील प्रेरणा दी थी। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि बंगाल में ब्राह्म-समाज की प्रगति का आधे से अधिक श्रेय श्री देवेन्द्रनाथ और द्वारिकानाथ को ही है। इसी ब्राह्म-समाज के आंदोलन ने आगे बढ़कर आधुनिक भारत के हिन्दुओं के जीवन के विविध अंगों का पुनरुद्धार किया।

टैगोर परिवार के सब सदस्य अप्रगतिशील प्रथाओं के आजन्म विरोधी रहे। एक बार श्री द्वारिकानाथ को मुसलमानों के साथ खाने के कारण ही जाति से निकाल दिया गया था। पर उन्होंने कभी इस विरोध की चिन्ता नहीं की। बाद मे उनके प्रातवासियों ने ही उन्हें 'महर्षि' की उपाधि से विभूषित किया।

रवीन्द्रनाथ इस प्रतिभावान् परिवार के सबसे अधिक ज्वलंत-सितारे थे। उनकी नैसर्गिक प्रतिभा के विकास मे पिता तथा पितामह के संस्कारों के साथ-साथ अपने भाइयों से भी प्रेरणा मिली। उनके बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ एक महान् दार्शनिक और लेखक थे और उनके दूसरे भाई ज्योतीन्द्र एक विख्यात कलाकार। उनकी कलाकृतियों की प्रशंसा उस समय के सर्वश्रेष्ठ कला-आलोचक सॅर विलियम राथेन्सन तक ने की थी। उनके तीसरे भाई 'इंडियन सिविल सर्विस' में प्रवेश करने वाले पहले भारतीय थे। उनके दो भतीजों, श्री अवनीन्द्रनाथ तथा गजनीन्द्रनाथ की तूलिकाओं का चमत्कार तो विश्वविख्यात है।

वर्तमान भारतीय-संस्कृति और कला के नये-युग के निर्माण में रवीन्द्र के परिजनों का बड़ा हाथ है।

रवीन्द्रनाथ का जन्म ६ मई, १८६१ को कलकत्ता के जोरासाका स्थित ठाकुर परिवार के सुप्रसिद्ध भवन मे हुआ था। बचपन मे ही उनकी मा का देहावसान होगया था। रवीन्द्र के पिता अपना अधिकाश समय विचार-ध्यान में ही व्यतीत करते थे, इसलिये उनका बचपन जोरासाका की विशाल कोठी के निराले संसार में नौकरों के मध्य ही व्यतीत हुआ। पाठशालाओं से बालक रवीन्द्र को चिढ़ थी। लेकिन फिर भी उन्हें प्रथम बंगाल-एकेडमी और तत्पश्चात् सेंट-जेवियर स्कूल भेजा गया। स्कूल के अनुशासनपूर्ण और संकुचित

वातावरण में उनका कवि-हृदय सदैव विरोधी ही रहा और इसके परिणामस्वरूप फिर उन्हे घर पर ही पढ़ाने की व्यवस्था की गई। पर घर में भी जिस प्रकार की स्कूली पढाई होती थी वह उन्हें पसंद न थी और उनका मुक्त, स्वप्नशील और उत्सुक मन शिक्षा के इन बन्धनो को स्वीकार नहीं कर पाता था और उनसे पार कहीं जाना चाहता था।

उनके पिता निरन्तर भ्रमण किया करते थे और इन भ्रमणों मे रवीन्द्र भी उनके साथ रहते थे। इन भ्रमणों मे उन्होंने बंगाल तथा उत्तर-भारत के गावों के साथ-साथ भारत के विभिन्न नगरों को देखा। कलकत्ता से लेकर उत्तरी सीमान्त प्रदेश तक की विस्तृत भूमि पर फैले, भारत की प्राचीन-सस्कृति से सम्पन्न, इन गावों तथा नगरों के भ्रमण से उन्हे वास्तविक भारत का परिचय हुआ।

१८७७ ई० में रवीन्द्र इंग्लैंड गये। वहा कुछ दिन ब्राइटन स्कूल मे अध्ययन करने के पश्चात् वे लन्दन विश्वविद्यालय मे दाखिल होगये। एक वर्ष ब्रिटेन रहने के पश्चात् वे अनेक सुखद तथा सुन्दर स्मृतियों के साथ वापस स्वदेश आये।

साहित्य-सृजन रवीन्द्र ने अपने बाल्यकाल से ही आरम्भ कर दिया था और भ्रमणकाल मे भी वे निरन्तर लिखते ही रहे। अठारह वर्ष की आयु तक उनके सैकडों काव्य तथा गद्य-काव्य प्रकाशित हो चुके थे। उनकी प्रथम रचना 'भानुसिंह' १८७७ ई० मे 'भारती' नामक प्रसिद्ध बंगाली मासिक मे प्रकाशित हुई थी। 'भारती' के सम्पादक रवीन्द्र के बडे भाई थे। उसमे रवीन्द्र ने अपनी इंग्लैंड-यात्रा के सस्मरणों के अतिरिक्त कई विदेशी साहित्यकारों के सम्बन्ध मे विचार-पूर्ण लेख भी लिखे। १८८६ ई० मे उनकी कविताओं का पहला संग्रह प्रकाशित हुआ।

रवीन्द्र को काव्य-सृजन की प्रेरणा बंगाली कवि चंडीदास और विद्यापति की कविताओं को पढ़कर हुई। जब वह बारह-तेरह वर्ष के ही थे, तभी उनके हाथों इन दोनों महाकवियो की कविताओं का एक सग्रह पड गया था और इस सग्रह ने उन्हें कई सप्ताह मुग्ध रखा। इसके बाद ही उन्होंने 'भानुसिंह' उपनाम से लिखना आरम्भ किया, पर इस उपनाम से लिखी गई अपनी आरम्भिक कविताओ के विषय में उनका कहना था कि "वे पुराने विषयों पर पुरानी शैली से लिखे गये प्रयोग गीतमात्र थे, जिनसे मुझे कविता लिखने का अभ्यास हुआ।" परन्तु इसके चार-पाच वर्ष बाद लिखे गये उनके गीत जिनका संग्रह बाद में 'सान्ध्य-सगीत' के नाम से प्रकाशित हुआ—अधिकाश प्रेमगीत थे, और उनकी शैली भी सर्वथा नवीन थी। पुराने कवियों ने इन गीतो का बहुत मज़ाक उडाया, पर नये कवियो ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उनके गीतो के विषयो का आधार वैष्णव कवियो के गीत थे, जो उन्हें काफ़ी समय बाद तक भी प्रेरणा प्रदान करते रहे। उनकी 'गीताजलि' का विषय-आधार भी यही गीत थे। 'सान्ध्य-संगीत' के बाद के काव्य-संग्रह 'प्रभात सगीत' मे 'निर्झर का स्वप्न-भंग' नामक कविता में उन्होने उस आत्म-साक्षात्कार के अनुभव का ही वर्णन किया था, जो उन्हें अपने विद्यार्थी काल मे हुआ था। इस सग्रह की अधिकाश कविताओं की शैली अग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शैले की काव्य-शैली से बहुत मिलती है और इसी कारण उन्हें उस समय 'बंगाल का शैले' कहकर पुकारा जाता था।

रवीन्द्र को जो एक विचित्र आध्यात्मिक अनुभव हुआ वह उन्हीं के शब्दो मे यह था—"मैं दालान में टहल रहा था। सहसा सघन-कुंजों से सूर्य-रश्मिया फूट पड़ीं। मेरी पलके जाग गइ और मैंने देखा कि सारा विश्व एक विचित्र ज्योति से स्नान कर रहा है। चारों

ओर सौन्दर्य की लहरें मडरा रहीं हैं, और आनन्द पल्लवित हो रहा है। वे ज्योति-किरणें मेरे अन्तराल मे प्रवेश कर गईं तथा मेरे हृदय का सञ्चित नैराश्य और दुःख उस सार्वभौमिक ज्योति मे डूब गया।"

इन्हीं दिनों वे कुछ समय कारवार प्रदेश मे भी रहे तथा वहा मे लौटने के पश्चात् दिसम्बर १८८३ ई० मे उनका विवाह श्रीमती मृणालिनी देवी के साथ सपन्न हुआ।

विवाह के पश्चात् उनका जीवन बहुत व्यस्त होगया और उनका समय विविध सास्कृतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियो के विकास मे जाने लगा।

उन्होंने बंगाली-साहित्य-परिषद् की स्थापना मे योग दिया। बंगाली के प्रायः सभी पत्रो में उनकी रचनायें प्रकाशित होती रहती थीं, बच्चों के एक पत्र 'बालिका' मे सबसे अधिक। उनकी गणना बंगाल के उदीयमान अग्रणी कवियों मे होने लगी थी। इन दिनों उनकी पोशाक भी कवियो के अनुरूप सजीली और बरबस ध्यान आकर्षित करनेवाली होती थी। इस पोशाक मे उनका सुन्दर शरीर और भी सुन्दर दीखता था। तत्कालीन बगाली कवियों मे, लम्बे लहराते बाल तथा नैपोलियन नुमा दाढ़ी, रखने की प्रथा रवीन्द्रनाथ ने ही आरम्भ की।

उनके साहित्य-सृजन को एक नयी दिशा तब मिली जब वे तेईस वर्ष के थे और पिता के आदेश से जमींदारी का काम सभालने के लिये स्यालदह गये थे। उसके पश्चात् उनके साहित्य-सृजन को एक और दिशा मिली उस समय जब वे चालीस वर्ष के थे। इन दोनों अवसरो पर उन्हें यह अनुभव हुआ था कि उनके जीवन में

एक महान् परिवर्तन आने ही वाला है।

श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी उन दिनों बंगाल के साहित्याकाश के सूर्य थे। रवीन्द्र से उनकी मैत्री बहुत गहरी थी। दुर्भाग्य से हिन्दू-धर्म सम्बन्धी एक वादविवाद ने प्रसिद्ध साहित्यक-मैत्री का अन्त कर दिया। उसी समय उनके बड़े भाई ज्योतीन्द्रनाथ की पत्नी का भी देहान्त होगया। रवीन्द्रनाथ को इस मृत्यु से गहरा शोक हुआ और उन्होंने लिखा: —"आज से मेरी कविताओं मे मृत्यु की प्रतिध्वनि सुनाई देगी।"

१८८७ ई० में रवीन्द्र उत्तर-प्रदेश के गाजीपुर नगर में आगये तथा वहाँ उन्होने अनन्यभाव से साहित्य-सृजन आरम्भ किया। यहाँ ही उन्होंने 'मानस' का सृजन किया। परन्तु गाजीपुर का एकान्त-जीवन उन्हें अधिक समय सह्य नहीं हुआ और उन्होंने बैलगाड़ी द्वारा ग्राइट्रक-सडक पर पेशावर-पर्यन्त यात्रा करने की योजना बनाई। परन्तु इस योजना के आरम्भ होने के पूर्व ही उन्हें अपने पिता का एक पत्र मिला, जिसमें उन्होंने रवीन्द्र को गंगा के तट पर स्थित स्यालदह नामक स्थान पर जमींदारी की देखभाल करने के लिये बुलाया था। पहले तो रवीन्द्र इस आदेश के पाने पर हिचकिचाये पर अन्त में राज़ी होगये।

स्यालदह में जो चार वर्ष रवीन्द्र ने व्यतीत किये, वे उनके जीवन के सर्वश्रेष्ठ वर्षों मे कहे जा सकते हैं। कवि होते हुए भी उन्होंने जमींदारी की देखभाल जैसे व्यावहारिक कार्य में वडी योग्यता का प्रदर्शन किया। गाववालों के निकट सम्पर्क में रहने के कारण उन्हें उनकी समस्याओं तथा उनके सादे जीवन का अध्ययन करने का अवसर भी मिला।

यहां उन्हें बंगाल की प्राकृतिक-शोभा के अवलोकन का भी भरपूर

अवसर मिला और यहा उन्हें वह वातावरण, शाति तथा विश्राम भी उपलब्ध थे जिनकी सहायता से उनकी कई श्रेष्ठ रचनाओं का जन्म हुआ।

इन चार वर्षों में उन्होंने सैंकड़ों निबन्ध, कवितायें, लघुकथायें तथा नाटक लिखे। उनकी इस काल की रचनाओं की गणना उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में होती है। इस काल में लिखा उनका 'बलिदान' और 'चित्रागदा' नाटक उनकी सर्वोच्च कलाकृतिया मानी जाती हैं। 'सोना तरी' और 'चित्रा' के विषय मे एक आलोचक ने कहा था :—"किसी रचना मे सौन्दर्य की छटा इतने विस्तृत रूप से नहीं है, जितनी इन दो रचनाओं मे। 'चित्रा' की 'उर्वशी' नामक कविता की गणना ससार की सुन्दरतम कविताओं में आज तक की जाती है।"

१८९६ ई० में 'साधना' का, जो बंगाल का सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र था, प्रकाशन बन्द होगया। इस समाप्ति ने रवीन्द्र के साहित्यानुराग को भी अस्थायी रूप से समाप्त कर दिया। उनकी अशात आत्मा 'कला-कला के लिये' वाले सिद्धात की खोज करने लगी। उनकी रुचि साहित्य से अधिक राजनीति मे होने लगी। उस समय भारत के अन्य प्रातों के समान बगाल भी अशांत अवस्था मे था। ब्रिटिश-सत्ता के विरोध में प्रदर्शनों, भाषणों और आन्दोलनों का जोर था। उच्चकुल में जन्म लेने वाले रवीन्द्र की सहानुभूति उन दिनों ही निम्नवर्ग तथा उसकी राजनीतिक दासता की ओर गई तथा उन्होंने बड़े उत्साह से राजनीति मे भाग लेना प्रारम्भ कर दिया।

पर रवीन्द्र जहा अंग्रेजी शासन के एक कटु विरोधी और आलोचक थे वहा दूसरी ओर वे उस समय के कई भारतीय नेताओं की नीति के भी आलोचक थे। उनका कथन था कि भारत की निरी

अवस्था के लिये केवल अंग्रेजी-शासन को ही दोष देना उचित नहीं है, देश की सामाजिक और शिक्षा विषयक अव्यवस्थाओं के लिये स्वयं देशवासी ही दोषी हैं और उनका ध्यान इस ओर भी जाना परमावश्यक है। देश के भविष्य की उनकी कल्पना का आधार भारत का गौरवमय अतीत और उसके आदर्श थे। इस आदर्श को समझाने के लिये अपने भाषणों में वे एक ओर उपनिषदों का उल्लेख करते थे और दूसरी ओर मराठों, राजपूतों तथा सिक्खों की वीर-गाथाओं को अपनी ओजस्वी भाषा में सुनाते थे। इसके लिये उन्होंने कथा-कहानी का लोकप्रिय और सरल माध्यम चुना।

अधिकतर देखा गया है कि कवि और कलाकार नेता नहीं होते। इस दृष्टि से देखा जाय तो रवीन्द्र नेता नहीं थे क्योंकि राष्ट्रीय-आन्दोलनों में उन्होंने कभी सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया। परन्तु यदि हम 'मानवता की सेवा' को भी राजनीतिज्ञ की गतिविधियों में सम्मिलित कर लें, तो रवीन्द्रनाथ को न केवल भारत बल्कि संसार के चुने हुए नेताओं की श्रेणी में रखा जा सकता है।

रवीन्द्र ने राष्ट्रीयता की तीव्र और बढ़ती हुई भावना को सहज रूप से ग्रहण कर लिया था। राष्ट्रीय-कांग्रेस के अधिवेशन में बङ्गाली भाषा में बोलने वाले पहले व्यक्ति रवीन्द्रनाथ ही थे। १६०५ ई० में बङ्गभङ्ग के आन्दोलन के समय वे 'ऐक्य और भ्रातृत्व' का संदेश लेकर प्रकट हुए। उन्होंने गाया :—

"कवि तबे उठे एशो जदि थाके प्राण,
तबे ताइ लहो साथे, ताई करो आजी दान।
बड़ो दुख, बड़ो व्यथा, सम्मुखे ते कष्टेर संसार,
बड़ोई दरिद्र शून्य बड़ो क्षुद्र बद्ध अन्धकार॥"

तथा

"बंगलार माटी, बंगलार जल,
पुन्न होक, पुन्न होक हे भगवान्!'

बंगाल में 'रक्षा-बन्धन' के त्यौहार को राष्ट्रीय-पर्व का रूप दिलाने वाले कवि रवीन्द्र ही थे।

बङ्गभङ्ग आन्दोलन के पश्चात् कवि राजनीतिक क्षेत्र से पुनः अपने कल्पना-लोक में वापस आगये। परन्तु फिर भी भारत के अन्य भागों में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध चल रहे आन्दोलनों के प्रति उनका उत्साह और सहानुभूति कम नहीं हुई। जलियावाले-बाग के काण्ड के पश्चात् अंग्रेजों की बर्बरता के विरुद्ध उन्होंने अपनी आवाज उठाई, तथा देश में सर्वत्र बरती जाने वाली अमानुषिकता से व्यथित होकर उन्होंने अपनी 'सॅर' की उपाधि अंग्रेज सरकार को वापस लौटा दी। इसी प्रकार भारत-भक्त रवीन्द्र ने रोमरोल्या से कुमारी राथबोन की भारतीय-संस्कृति की आलोचना का जो मुंहतोड़ उत्तर दिया था, वह भी उनकी राष्ट्रीयता का द्योतक है। उनका लिखा हमारा राष्ट्रीय गान 'जनगण मन अधिनायक जय हे' मातृभूमि के प्रति उनके गहरे प्रेम को दर्शाता है।

रवीन्द्र सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयतावादी थे, यद्यपि यह सच है उनकी राष्ट्रीयता हमारे देश के अन्य नेताओं की भांति संकीर्ण राष्ट्रीयता नहीं थी।

कल्पना-लोक से आकर बोलपुर-स्थित 'शान्तिनिकेतन', जो १९०१ ई० में स्थापित हुआ, कवि की प्रथम कृति थी। पहले यहाँ कवि प्रकृति-निरीक्षण के लिए आए थे और उनका इरादा यहाँ सुन्दर प्राचीन भारत की गहनशांति को प्राप्तकर एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करने का था, जहाँ मनुष्य प्रेम और विश्व-सौन्दर्य की प्रशंसा करना सीखें। शांतिनिकेतन बच्चों की एक नई शैली की शिक्षा संस्था थी, जहाँ उन्हें प्रकृति के खुले वातावरण में वह शिक्षा प्रदान की जाती,

थी, जिससे उनके मन और मस्तिष्को का विकास सही रूप में हो सके। कुछ ही वर्षों मे शातिनिकेतन विश्वविख्यात होगया और फिर वढ़कर उसने एक विश्वविद्यालय, विश्वभारती का रूप धारण कर लिया।

शातिनिकेतन की स्थापना तथा उसके विकास के लिए रवीन्द्र को अपनी पुस्तकों के 'कापीराइट्स' (सर्वाधिकार) प्रकाशकों को अल्प मूल्य पर वेचने पडे। उन्हीं के शब्दों में —"यह लिखना कठिन है कि इस कार्य में मैंने किन-किन कठिनाइयो का सामना और कितना जवर्दस्त संघर्ष किया। आरम्भ मे इस सस्था को स्थापित करने का मेरा उद्देश्य देश-सेवा था, पर वाद मे यह विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक होगया। इस उद्देश्य परिवर्तन का एक कारण वह कई वियोग भी थे, जो मुझे इस दौरान मे सहने पडे।" इस काल मे उन्होंने अधिकाश कहानियाँ लिखीं और प्रमुख आलोचकों का मत है कि कला की दृष्टि से उनकी यह कहानियाँ उनकी अधिकाश कविताओं से वढ़कर है।

शातिनिकेतन की स्थापना के पश्चात् के वर्षों में रवीन्द्र व्यस्त तो काफी रहे, पर उन्हें काफी कष्टों का सामना भी करना पड़ा। नवम्बर १९०२ ई० में उनकी पत्नी का देहान्त होगया। उनकी दूसरी लडकी को क्षय होगया था। कवि उसकी परिचर्या के लिए उसे अल्मोडा ले गए, पर वह वच न सकी और १९०४ ई० में उसका भी देहान्त हो गया। १९०५ ई० में उनके पिता श्री देवेन्द्रनाथ का और इसके एक वर्ष वाद मुंगेर में उनके पहले लडके का, जो उन्हीं के शब्दों में 'अत्यन्त मधुरभाषी लड़का था।' देहान्त हुआ। इन सव वियोगों की वेदना इन्हीं दिनों रचित उनके काव्य-ग्रन्थों 'स्मरण' और 'खेया' में लक्षित होती है। इन्हीं दिनो उन्होंने अपने कई उपन्यास, जिनमें

'गोरा' सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, लिखे। 'गोरा' उनका लम्बा उपन्यास है, जिसमे रूसी उपन्यासों की-सी वृहत्ता और गहराई है।

बगभंग आन्दोलन में अग्रगामी रूप से भाग लेने के कारण पुलिस उनकी निगरानी रखने लगी थी इसलिए उन्होंने शांतिनिकेतन में वापस लौटकर अपना सारा समय लेखन-कार्य मे व्यतीत करने का निश्चय किया। राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं को उन्होंने त्याग दिया और उनकी रुचि धर्म मे जाग्रत हुई। शांतिनिकेतन के विद्यार्थियो के साथ भी वे अपना अधिक समय धार्मिक-विषयो की चर्चा मे लगाते थे और इन भाषणो का एक बड़ा संग्रह बाद में 'शांतिनिकेतन' नाम से प्रकाशित हुआ। इन्हीं दिनो उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृतियों 'डाकघर', 'गीतांजलि' आदि का सृजन किया।

'गीतांजलि' से पूर्व भी कवि 'नैवेद्य' लिखकर गद्यकाव्यो के रूप में अपने धार्मिक-विचारो की अभिव्यक्ति कर चुके थे, पर वह एक प्रयोग-मात्र था। गीतांजलि एक सम्पूर्ण और महान् कृति है। यह एक ऐसे महामानव की स्पष्ट वाणी है जिसने अनेक व्यथाओं को सहन करने के पश्चात् जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त किया हो।

१९११ ई० मे रवीन्द्र पुनः अपने कल्पनालोक से सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में आगए। कई वर्षों से ब्राह्मसमाज कई दलों मे विभाजित हो गया था। रवीन्द्रनाथ ने उनमे एकता स्थापित करने का कार्य अपने हाथ मे लिया। पर उनके प्रयत्न सफल नहीं हुए और वह पुनः शांतिनिकेतन चले आए। अगले वर्ष बंगाल मे उनकी स्वर्ण-जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई। इसके कुछ समय पश्चात् वह इंग्लैंड गए।

१८९० ई० मे वे कुछ दिनों के लिए यूरोप गए थे और इससे पहले भी बीस वर्ष की आयु मे उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इंग्लैंड भेजा गया था। पर उस समय वह अपने भतीजे की बीमारी के कारण वापस

आ गए थे। इस बार की विदेश-यात्रा में रवीन्द्र ने अपने-आपको बहुत ही अकेला और निराश अनुभव किया। फिर उनकी इच्छा इंगलैंड के प्रमुख कवियों और साहित्यकारों से मिलने की हुई। ईट्स, 'स्टोपफोर्ड ब्रुक्स, नैविन्सन' आदि कवियों ने उनकी कविताओं के अनुवाद पढ़कर उनके सौन्दर्य और रवीन्द्र की प्रतिभा को जाना। एक अंग्रेजी प्रकाशक ने 'गीतांजलि' का अँग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया और उसके प्रकाशन ने वहाँ के काव्य-जगत् में एक तहलका मचा दिया। उमर खैय्याम के बाद 'गीतांजलि' पूर्व से आने वाला पहला काव्य-ग्रन्थ था, जिसने पश्चिमी काव्य-प्रेमियों को मुग्ध कर दिया।

इंगलैंड से रवीन्द्र अमेरिका गये और वहा से १९१३ ई० में भारत लौटे। इस भ्रमण ने उन्हें विश्वविख्यात कर दिया था और उनकी गणना संसार के श्रेष्ठ कवियों मे होने लगी थी। उनके भारत लौटने के कुछ सप्ताह बाद उन्हें साहित्य का सुप्रसिद्ध पुरस्कार, 'नोबेल-पुरस्कार' दिया गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी तुरन्त उन्हें कई उच्च डिग्रियां प्रदान कीं। १९१४ ई० में भारत सरकार ने उन्हे 'सॅर' की उपाधि से विभूषित किया। इन्हीं दिनों, जबकि उनकी ख्याति निरन्तर बढ़ रही थी, उन्होंने अपनी कई पुस्तकें जिनमें 'घर-बाहिर', 'माली', 'बालक', आदि थीं, लिखीं। १९१६ ई० में उन्होंने जापान में 'राष्ट्रीयता' विषय पर और अमेरिका में 'व्यक्तित्व' विषय पर भाषण दिये।

१९१४ ई० मे प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने पर रवीन्द्र के मन में पश्चिम के भौतिकवाद तथा युद्ध-प्रेम के प्रति ग्लानि और भी तीव्र होगई। इन्हीं दिनों सारे भारत में राष्ट्रीयता की एक जबर्दस्त लहर-सी दौड गई और कई राष्ट्रीय-आन्दोलन आरम्भ हुए। १९१९ ई० में

जलियावाला-गोलीकांड हुआ, और रवीन्द्र ने सरकार की नीति के विरोध मे अपनी 'सॅर' की उपाधि वापस लौटा दी।

सन् १९१५ ई० मे दक्षिण अफ्रीका से लौटकर महात्मा गांधी अपने कई शिष्यों के साथ शांति-निकेतन में आये। कवि के मन मे महात्माजी के प्रति गहरा आदर-भाव था, पर वे कई बातों में उनसे मतभेद भी रखते थे। असहयोग-आन्दोलन तथा चर्खे के लिये उनके मन मे गांधीजी के समान श्रद्धा नहीं थी। उनके इन मतों के कारण उनकी काफी आलोचनाएं भी हुई, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका मे गांधीजी के सत्याग्रह की विजय के पश्चात् वे जनता के आदर-पात्र बन गये थे। पर रवीन्द्र ने इन आलोचनाओ पर अधिक ध्यान नहीं दिया और वे अपनी राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धांत का प्रचार करते रहे। विश्व-भारती की स्थापना उन्होंने इन्हीं सिद्धांतो के प्रचार के लिये की। १९१४ ई० मे उन्होंने 'विश्वभारती' मे 'श्रीनिकेतन' विभाग भी सम्बद्ध किया। इस विभाग का कार्य ग्रामोद्योग सम्बधी सभी योजनाओ को कार्यान्वित तथा प्रोत्साहित करना था।

पश्चिम के लोग इस समय तक रवीन्द्र को गहरी श्रद्धा से देखने लगे थे। १९२० और १९३० ई० तक उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के कई देशों रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, जापान आदि मे सात बार भ्रमण कर व्याख्यान दिये। इन भ्रमणों ने उनके प्रशंसकों की संख्या और भी बढ़ा दी। १९३० ई० मे उन्होंने रूस मे जो प्रगति देखी, उससे वे बहुत प्रभावित हुए और अपनी एक पुस्तक 'रूस की चिट्ठी' मे उन्होंने रूस की इस प्रगति का अत्यंत विस्तृत रूप से वर्णन किया है। उनकी सुप्रसिद्ध व्याख्यान माला, जिसका विषय 'मानव का धर्म' था, १९३० ई० मे 'हिबर्ट लैक्चर्स' के अन्तर्गत दी गई। उनकी ७० वीं वर्षगांठ पर उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रंथ अर्पित किया गया, जिसमें विश्व-भर के प्रमुख

साहित्यिकों, नेताओं, वैज्ञानिकों तथा कवियों की श्रद्धाजलियाँ थीं।

साहित्याकाश मे सूर्य की भाति उद्भासित रहने के अतिरिक्त रवीन्द्र उच्च-कोटि के सगीतज्ञ, अभिनेता, चित्रकार, दार्शनिक, पत्र-कार, शिक्षक और नेता भी थे। संसार के इतिहास मे विविध कलाओं में पारंगत ऐसा प्रतिभावान् व्यक्ति शायद ही दूसरा हो। इन सब विषयों मे उनकी प्रेरणा का स्रोत उपनिषद् तथा संस्कृत के अन्य धार्मिक-ग्रन्थ थे। उनकी 'साधना' पुस्तक उपनिषदों का सार है। इस पुस्तक को पढ़ते हुए लगता है जैसे प्राचीन समय के ऋषियों की पवित्र वाणी सुन रहे हों। कुछ उदाहरण देखिये—

"मनुष्य की असमर्थताओं का अन्त नहीं। जबतक उसे अपनी आत्मा का सच्चा बोध नहीं हो जाता, तबतक उसकी आवश्यकताओं का भी अत नहीं। तबतक उसकी दृष्टि मे यह संसार एक सग प्रवहमान भंडार है, एक जादू है, जो समझ मे नहीं आता, यह भी कि वह है या नहीं। किन्तु जिस मनुष्य ने आत्मा का बोध कर लिया है उसे समस्त विश्व का एक निश्चित केन्द्र दीखने लगता है, जिसकी परिधि मे चारों ओर अन्य सब वस्तुओं का अपना निर्धारित स्थान बना है। इसी केन्द्र से वह मनुष्य समतापूर्ण जीवन का वरदान और आनन्द की अनुभूति पा सकता है।

तथा—

"पाप अकेला एक ही कार्य नहीं है, यह तो एक मनोवस्था या विचारधारा का परिणाम है, जो भोग को ही जीवन का लक्ष्य मानती है और यह समझती है कि संसार की वस्तुओं मे कोई दिव्य समता नहीं है और हर कोई अपने लिये जीता है।

"इसलिये मैं यह बात दोहराता हूँ कि हम जबतक मनुष्य से प्रेम नहीं करेंगे, उसको पूरी तरह समझ नहीं सकेंगे। सभ्यता की

परख यह नहीं होनी चाहिये कि उसने कितना शक्तिसंग्रह किया है, बल्कि यह कि उसने मनुष्य-प्रेम को विकसित करने के मार्ग में कितना कार्य किया है, कौन-कौन-सी संस्थायें बनाई हैं। कौन-सी व्यवस्था की है और व्यवस्थित उद्योग किया है। सबसे पहला और अंतिम प्रश्न यह है कि वह मनुष्य को केवल एक यन्त्र मानती है या जीवित आत्मा। प्राचीन सभ्यताओं का अंत जब भी हुआ, इसी कारण से हुआ कि उन्होंने मनुष्य का मूल्य घटा दिया था, मनुष्य-हृदय ने क्रूरता अपना ली थी। जब कोई राष्ट्र या उसका प्रभावशाली जनसमूह मनुष्य को अपनी शक्तिसग्रह का उपकरणमात्र समझना आरम्भ कर दे, तभी वह मनुष्य की महानता पर कुठाराघात करता है। कोई भी सभ्यता ऐसी मनुष्यभक्षी राक्षसी वृत्तिया के आधार पर खड़ी नहीं रह सकती।'

गुरुदेव के एक शिष्य ने अपने कुछ संस्मरणों में गुरुदेव की जीवनचर्या का वर्णन किया है। इन संस्मरणों से ज्ञात होता है कि रवीन्द्रनाथ प्रतिदिन बड़े सवेरे पक्षियों के जागने के साथ साथ ही उठ जाया करते थे। सूर्योदय का दृश्य उन्हें अत्यन्त प्रिय लगता था, और इसकी प्रतीक्षा में वह हाथ जोड़कर गाते थे :—

"आलोकेर एइ झना धारा
धुइये दाओ,
आमार प्रानेर मलिनता
धुइये दाओ !'

उठकर केवल चाय, टोस्ट लेकर वे लिखने बैठ जाया करते थे, और बिना रुके घण्टों लिखते रहते थे। लिखते समय वह किसी से मिलना कम ही पसन्द करते थे। उनकी लेखनी से बहते हुए अनवरत रूप से शब्दप्रवाह को देखकर [illegible] रह जाना पड़ता था। इसी

लिखने की शक्ति असाधारण थी। अन्य कार्यों में भी आलस्य उन्हें बिल्कुल नहीं रुचता था। हर कार्य को वे खेल के समान ही आसानी से पूरा कर देते थे।

उनके हस्ताक्षर उन्हीं की भांति अत्यन्त सुन्दर थे। उनके हस्ताक्षर का संग्रह करने के लिये प्रतिदिन सैकड़ो व्यक्ति उनके आटोग्राफ लेने आते थे और वे सभी को आटोग्राफ तथा साथ मे कुछ और सन्देश अवश्य लिखकर देते थे।

एक आटोग्राफ के साथ उनका सन्देश था :—

"मनुष्य जिसे सत्य करके देखता है
उसके भीतर ही वह अनुभव करता है चिरन्तन का,
और वही अनुभव वार्त्ता कहने को वह
आंकता है छवि, लिखता है काव्य, गाता है गान।"

गीत लिखना गुरुदेव के लिये ऐसा था, जैसे किसी बच्चे के लिये खेलना। सहज और मधुर भाषा मे गुंथे छन्द उनकी लेखनी से प्रवाहित होकर नये-नये सुरो मे बंगाल के घर-घर में छा जाते थे।

उन्हे अव्यवस्था पसन्द नहीं थी, यद्यपि स्वयं वे बहुत अव्यवस्थित थे। अपने कागज-पत्रो को कहीं रखकर स्वयं उन्हें खोज निकालना उनके लिये असम्भव हो जाता, ऐसे अवसरो पर उनका नौकर वनमाली उनकी सहायता करता था। रवीन्द्र को ठीक समय पर स्नान कराना, भोजन कराना तथा अन्य सेवायें करना, वनमाली का का ही काम था।

गुरुदेव भोजन बहुत ही कम खाते थे। थाली के सब व्यञ्जनो को चख-भर लेते थे। व्यञ्जन उन्हे अधिकाधिक पसन्द थे क्योंकि भोजन में विविध स्वाद उन्हें पसन्द थे। भोजन उन्हें सादा, कम मसाले का और कच्ची रसोई का पसन्द था। फल और देशी गुड़

के मिष्ठान उन्हें विशेष रुचते थे। पहले वे मांस-मछली का सेवन करते थे पर बाद मे उसका परित्याग कर दिया था। धूम्रपान या पानसुपारी आदि के सेवन में उनकी रुचि नहीं थी।

कहा जाता है कि लन्दन के एक प्रमुख स्टूडियो मे रवीन्द्रनाथ का चित्र टंगा देखकर भारत के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने उस स्टूडियो के मालिक से कहा—"मुझे यह देखकर खुशी है कि आप भी हमारे कवि का इतना आदर करते हैं।" फोटोग्राफर ने उत्तर दिया—"कवि ? यह तो मुझे आज ही मालूम हुआ कि यह किसी कवि का चित्र है। मैं तो इस चेहरे की भव्यता से आकर्षित हुआ था।"

उनके तेजस्वी मुखमंडल को देखते ही मालूम हो जाता था कि यह व्यक्ति अवश्य असाधारण और महान् होगा। उनकी दाढ़ी ने उनके चेहरे की शोभा को और भी बढ़ाकर उन्हें देखने मे भी कवि बना दिया था।

एक ओर वे सादगी के इतने पुजारी थे कि शांतिनिकेतन के उनके आश्रम के फर्नीचर का मूल्य १० रु० से अधिक नहीं था, तो दूसरी ओर विदेशी रेलों मे यात्रा करते समय फर्स्ट क्लास का पूरा डब्बा उनके अकेले के लिये रिजर्व होता था। उनका जन्म भी एक अत्यन्त धनी परिवार मे हुआ था और वह चाहते तो बड़ी आसानी से अपना सारा जीवन विलास और आराम मे व्यतीत कर सकते थे, पर महान् पुरुष ऐश्वर्य के वातावरण मे पलकर भी सादा जीवन ही व्यतीत करते हैं। उन्हें सादे जीवन से ही प्यार होता है।

उनके स्वभाव मे एक और विरोधाभास था, जो उनके समीप रहने वालो को भी कभी-कभी आश्चर्य मे डाल देता था। कभी-कभी वे इतने गम्भीर हो जाते थे कि स्वयं उन्हीं के शब्दों मे, "मेरा मन इतना उदास हो जाता था कि महीनों बिल्कुल चुप रहता था। [illegible]

बोलने को मन नहीं करता था । यहाँ तक कि इस मौन के पश्चात् मुझे अपनी शिथिल वाणी भी अपरिचित-सी लगती थी।" दूसरी ओर अपनी ख्याति को लेकर उनमे बच्चो-जैसा कौतूहल और आश्चर्य था। नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद जब उन्हें पुरस्कार लेने के लिए कोपेन-हैग आमन्त्रित किया गया तो वे गम्भीर न होकर बच्चो की भाँति सहज रूप से प्रसन्न और मुदित थे। प्लेटफार्म पर उपस्थित विशाल जन-समूह को देखकर उन्होंने अपने एक साथी से कहा—'कोई बड़ा आदमी आया मालूम होता है । यह सब लोग उसी के स्वागत के लिए खड़े मालूम होते हैं। जब उनके साथी ने उत्तर दिया कि वे सब उन्हीं के स्वागत के लिए एकत्र हुए हैं, तो उनकी आँखे बाल-सुलभ उल्लास से चमक उठीं और उन्होंने कहा :—'सच ? क्या मेरे लिए आए हैं ये लोग। ऐसा कैसे हो सकता है ?'

उनकी इस उल्लासप्रियता की कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

एकबार एक पत्रकार के बराबर यह प्रश्न करने पर कि 'आप क्यों लिखते हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया —"आप जैसे व्यक्ति आकर समय बर्बाद करने लगते हैं, तब उनसे छुटकारा पाने के लिए लिखता हूँ। पर आप तो शायद अपने प्रश्न का गम्भीर उत्तर चाहते हैं न, तो सुनिये ! मैंने इतनी कलम चलाई है कि अब कलम मेरी परम आज्ञा-कारिणी दासी बन गई है और वह बस मेरी इच्छा होने पर लिखे चली जाती है।"

रवीन्द्रनाथ किसी भी व्यापारी को, किसी भी वस्तु पर एक बार के आग्रह पर, वस्तु का प्रयोग किये बिना ही प्रशंसापत्र दे देते थे। एक-बार उनके एक मित्र ने उनसे कहा, कि "यदि आप इसी प्रकार प्रशंसा-पत्र देते रहे तो दुनिया मे शायद ही कोई वस्तु ऐसी बचेगी जिसकी प्रशंसा और प्रयोग आपने न किया हो।

रवीन्द्र ने मुस्कराकर कहा नहीं, एक चीज तो अवश्य ऐसी रहेगी, जिसको प्रशंसा-पत्र में कभी नहीं दे सकूँगा।

'क्या ?'

'रेजर ब्लेड्स।'

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर उन्होंने जो वक्तव्य दिया था उससे ज्ञात होता है कि युद्ध के प्रति उनकी घृणा कितनी तीव्र थी। उन्होंने कहा था :—

"जर्मनी के वर्तमान शासक की उद्दंडतापूर्ण खलता ने सारे विश्व की अन्तरात्मा को बुरी तरह झंझोटा है।" पश्चिम के युद्धप्रेम के विषय में इससे दो वर्ष पूर्व भी कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह पर भाषण करते समय भी उन्होंने कहा था : —

"इस सभ्यता के वर्तमान परिपोषकों का सारा ध्यान और समय आजकल विनाश के ऐसे यन्त्रों के निर्माण में लगा है जिनसे वे एक दूसरे को नष्ट करने के इच्छुक हैं। इतिहास के किसी भी काल में मानव की मानव के प्रति अश्रद्धा और आशंका इतनी अधिक नहीं थी, जितनी आजकल है। विश्व पर छाये विस्तृत नभ-मंडल से पहले मानव को मुक्ति-प्रकाश प्राप्त होता था. आजकल वही नभ-मंडल उस धूल से भरा है, जो विनाश के कीटाणुओं को फैलाने वाले युद्धों के कारण जन्मी है। सारा पश्चिम आज संहार के मद में मग्न पश्चिमी सभ्यता के ताण्डव-नृत्य की रंगभूमि बना हुआ है। अपने सम्पूर्ण विनाश की ओर उन्मुख इस सभ्यता की मैं प्रशंसा कर सकता हूँ, नहीं समझ पाता।" पश्चिम के इस युद्ध-रोग का उपचार उन्हीं के शब्दों में—"पश्चिम द्वारा सर्वोपरि मानव-हृदय की [illegible]। मानव-हृदय की भावनाओं के विकास को प्रोत्साहित करना पश्चिमी सभ्यता का उद्देश्य होना चाहिये। यदि इस [illegible] [illegible]

रूप से होने दिया जाये तो सारी समस्याओं को अन्त ही हो जाये।"

उनकी पोशाक सादी पर मनोरम होती थी। सादा पाजामा, ढीला कुरता और पतली चप्पल तथा चादर। इस परिधान में भी सब उन्हें देखते रह जाते थे।

शातिनिकेतन के विद्यार्थियो की पढ़ाई बन्द क्लास-रूमो के स्थान पर प्रकृति की गोद, खुले मैदानो मे होती थी। गुरुदेव ने विद्यार्थियों को घनघोर वृष्टि मे भीगने की अनुमति दे रखी थी, तथा ऐसे ही अवसरो पर वे अपनी कविताएँ सुनाकर विद्यार्थियो को प्रसन्न किया करते थे। आश्रम तथा शातिनिकेतन की हर प्रवृत्तियों तथा छोटे-बडे कामों मे उनकी रुचि थी। विद्यार्थियो की सुविधाओं, असुविधाओं का उन्हें पूरा-पूरा ध्यान रहता था। वे सदैव विद्यार्थियो को उनके विभिन्न कार्यों के लिये प्रोत्साहित करते रहते थे, तथा सब के लिये एक जीवित प्रेरक-शक्ति थे। उनका एक गीत सब के प्रतिदिन के जीवन-पथ का संगीत था।

'चलिगो चलिगो जाइगो चले
पथेर प्रदीप जलेगो।'

इस पथ मे न क्लान्ति है न अवसाद और न कुछ शेष रहा है। इसमें उद्यम और उत्साह है। विश्राम करने के पश्चात् पथिक पुनः गा उठता है, यात्रा की वेला के पुण्य प्रभात मे—

'आमार माथा नत करे
दाउने हैं, तोमार चरण, धूलीर परे।'

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में गुरुदेव का झुकान सहसा चित्राकन की ओर हुआ। छोटे बच्चो की भाति वे रंग लेकर मत्त और अधीर हो उठे। यह क्रम ऐसा चला कि एक दिन मे ही वे ढेर के ढेर चित्र बना डालते थे। चित्रो पर रंग लाने के लिए

उन्होंने कई नये प्रयोग भी किये। फूलों का रंग भरना हुआ तो कागज पर फूल घिस दिया। धूप दिखाने के लिये कागज को उस स्थान पर सफेद छोड़ देते थे। स्रोत दिखाना हुआ तो रंगीन पानी कागज पर बहा देते थे। सोने की आभा चित्रित करने के लिये हल्दी का प्रयोग करते थे। उनका चित्राङ्कन किन्हीं निश्चित नियमों से बंधा नहीं था। उनकी छवियां सब नियमों को भूलकर अपने पंख पसार-का मुक्त रूप से कल्पना-लोक में उड़ती थीं।

यद्यपि गुरुदेव का व्यवहार सभी के साथ अत्यन्त स्नेहपूर्ण रहता था, फिर भी उनके व्यक्तित्व में इतना तेज था कि सभी उनसे डरते भी थे। अनायास ही मस्तक उनके दीप्तिमय चेहरे के सामने झुक जाता था। पहली दृष्टि में ही वे ऋषि लगते थे।

रवीन्द्र में धैर्य असीम था। उन पर बड़े से-बड़े दुःख सङ्कट कई बार आये, पर उन्होंने इस दुख-भार को अनन्त नीरव भाव से सहन किया, उसके आघात से वे कभी टूटे नहीं। उनका कथन था—

'दुख यदि ना पावि तो,
दुख तोमार घूचवे कबे

उनकी यह आश्चर्यजनक सहनशक्ति बड़े आघातों के समय ही नहीं, प्रतिदिन के छोटे-छोटे कष्टों के समय भी [illegible] देती थी। एकबार एक बिच्छू ने काटकर उनके पैर को नीला कर दिया था। सभी कातर थे, पर डाक्टर के पूछने पर रवीन्द्रनाथ ने कहा—'मेरे पैर को तो अवश्य बड़ी तकलीफ हो रही है, पर मुझे नहीं।' कराह, कराह या यन्त्रणा का कोई भी चिह्न दर्शकों को देखने-सुनने को नहीं मिला।

आज रवीन्द्रनाथ का शरीर हमें प्रेरणा देने के लिये जीवित नहीं है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उनका आत्मा के प्रति प्रेम [illegible]

अमर-संदेश आज भी हमे प्राप्य है और युग-युग तक लोगों को प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। १९४१ ई० की जनवरी में उनके लिखे यह शब्द, आज स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भी दलित-वर्ग की करुण पुकार हमारे सामने साकार कर देते हैं।

"मूक जारा दुखे सुखे,
नतशिर स्तब्ध जारा विश्वेर सम्मुखे।
ओ गो गुणी
काछ थेके दूरें जारा तहादेर वानी जेन सुनी,
तुमी थाक तहादेर ज्ञाति,
तोमार ख्याति ते तारा पाये जैन,
आपनारी ख्याति
आभी वारम्वार
तोमारे करीव नमस्कार।

गहरे शोक की छाया में ही कवि रवीन्द्र ने गीताजलि लिखी थी। गीताजलि के अग्रेजी रूपान्तर में, जो उन्होंने स्वयं किया — वंगाली गीतांजलि के गीतों के अतिरिक्त भी कुछ और गीत हैं, जो उन्होंने बाद में लिखे। इस अंग्रेजी रुपान्तर के बारे मे एकबार उन्होंने कहा था—'ऐसा करते समय मुझे अपने गीतों को सजीले आवरण से विहीनकर उन्हे सादे वस्त्र पहनाने पड़े।' कहना न होगा कि गीताजलि की सादी अंग्रेजी भाषा ने आग्ल-साहित्य की सीमाओं को विस्तृत किया, तथा उसे अधिक भावपूर्ण-शैली प्रदान की। ससार की किसी भी भाषा के साहित्य में इससे पूर्व कभी ऐसा चमत्कार नहीं हुआ था कि किसी कवि ने अपने गीतों को अपनी मातृभाषा की अपेक्षा एक विदेशी भाषा में अधिक प्राभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है। यह ऐसा ही था जैसे कोई व्यक्ति एक मुख से दो भाषाओं में उन

दो भाषाओं के जानने वाले व्यक्ति से एक ने ही प्राभाविक ढंग से बात करे। गीतांजलि के सृजनकाल में रवीन्द्र के जीवन को भी एक नयी दिशा मिली। उन्हें लगा जैसे कोई परदा उठ गया है और प्रकाश हो गया है। जीवन का वास्तविक प्रकाश और सौन्दर्य उन्हें दिखाई पड़ा।

ऐसा ही एक आध्यात्मिक अनुभव उन्हें उस समय भी हुआ था, जब उन्होंने अपने पुत्र के साथ पश्चिम की यात्रा की थी। उन्होंने कहा—"एटलांटिक पार करते समय मुझे लगा जैसे जीवन में अब कुछ दिन मुझे केवल यात्री बनकर रहना है। मुझे तब जैसी स्वतन्त्रता अनुभव हुई, वैसी पहले कभी नहीं हुई थी।'

रवीन्द्रनाथ का सर्वश्रेष्ठ परिचय 'प्रकृति के प्रेमी' कहकर दिया जा सकता है। प्रकृति के सौन्दर्य-भंडार तथा उसके चमत्कारों को उन्होंने सदा बच्चों जैसी कौतूहल-पूर्ण-दृष्टि से देखा और सरलतम भाषा में उसे व्यक्त भी करते रहे। प्रकृति के प्रति इस प्रेम के विषय में उन्होंने स्वयं कहा है—"मैं आरम्भ से ही प्रकृति का प्रेमी रहा हूं। बचपन में मैं घंटों आकाश में बादलों को आते-जाते देखा करता था। उन दिनों भी प्रकृति के बीच में जाकर मुझे सदैव ऐसा लगता था जैसे मैं किसी अज्ञात परन्तु गहरे मित्र के साथ हूं और वह मित्र ऐसा था, जिसका सौन्दर्य हर बार बदलता रहता था। उस मित्र के लिये मेरा प्रेम कितना अधिक था, यह शब्दों में व्यक्त करना मेरे लिये कठिन है।"

प्रकृति के प्रति प्रेम प्रत्येक कवि में स्वाभाविक है, पर रवीन्द्र की प्रकृति-विषयक कविताओं को पढ़कर ज्ञात होता है कि उनका प्रेम कितना व्यापक और तीक्ष्ण था। और एक प्रसिद्ध अंग्रेज कवि के अनुसार, 'यह उचित भी है क्योंकि रवीन्द्र अन्य कवियों से कहीं अधिक [illegible],

हैं ।' जिस प्रकार कोई यात्री विदेश मे स्वदेश से आये पत्र का स्वागत वडी उत्सुकता और प्रसन्नता से करता है, उसी प्रकार वे जीवन के प्रत्येक प्रभात का, जो प्रकृति द्वारा उनको भेजे गये प्रेमपत्र के समान होता था, स्वागत करते थे । शातिनिकेतन मे वे प्राय: नंगे-पाव घूमा करते थे, ताकि उन्हें 'मा धरती के चुम्बन। का आनन्द प्राप्त हो सके ।' धरती से इस प्रकार सीधा सम्पर्क कर उन्हे एक महान् हर्ष होता था । प्रकृति की पहाड़िया, वन-उपवन, पुष्प, नदिया, भूमंडल, वदलती ऋतुएं—सभी का उनके लिये विशेप आकर्पण और सदेश था । प्रकृति से इस एकात्मता के कारण उनमे प्रकृति के प्रति एक अगाध-स्नेह और श्रद्धा जाग्रत हुई थी ।

प्रकृति की शोभा के वर्णन के अतिरिक्त उन्होंने अपनी रचनाओं मे विश्व के सौन्दर्य को भी व्यक्त किया है । पर यहा उनका वर्णन सौन्दर्य-पूर्ण होते हुए भी वास्तविकता पर आधारित है । वहाॅ भी उन्होंने मानवशरीर, जो छाया मात्र है, का वर्णन करके ही इतिश्री नहीं कर दी है, उन्होंने सदैव आत्मा की उज्ज्वलता और प्रधानता पर जोर दिया है । उनका उद्देश्य उन्हीं के शब्दो में 'जीवन की सम्पूर्णता के सौन्दर्य का वर्णन करता है ।'

प्रकृति के प्रति उनके प्रेम का और भी अधिक परिचय उन पुस्तकों से होता है जिनमें उनकी विशेप अभिरुचि थी । उन्हें वैज्ञानिक विपयों की पुस्तकें —जिनमे नक्षत्र, भूगोल तथा शरीर-शास्त्र सम्बंधी पुस्तकें भी शामिल हैं—पढ़ने का चाव था । उदाहरणार्थ स्वीडन के प्रसिद्ध यात्री हैडिन संवंधी सव पुस्तकें उन्होंने पढ़ डाली थीं । नक्षत्रो के संवंध में एक पुस्तक पढ़ने में व्यस्त कवि से एक वार एक पत्रकार ने पूछा—'क्या कवि के तारे की कल्पना वैज्ञानिक के तारे की कल्पना से विभिन्न नहीं होती ?'

कवि ने उत्तर दिया—"विभिन्नता शायद है ? पर यह विभिन्नताये एक-दूसरे की पूरक है। मैं जब सितारों के विषय मे पढ़ने लगता हूँ तो मेरा मन ससार की सीमितताओ को लाघकर न जाने किस अनन्त प्रदेश में खो जाता है। मुझे एक नई गहराई का भान होता है।"

मृत्यु के सम्बन्ध मे रवीन्द्र ने अपनी एक कविता मे लिखा है—"जीवन और मरण इस प्रकार हैं, जिस प्रकार बच्चा मा के एक स्तन से दुग्धपान करने के पश्चात् दूसरे स्तन से दुग्धपान आरम्भ कर देता है।" एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है—"मेरे जीवन मे कई बार ऐसे अवसर आये हैं, जब मैंने स्वय को मृत्यु के अत्यन्त निकट पाया है। मुझे मृत्यु से भय नहीं लगता। जब कभी मृत्यु की अनुभूति हुई है उसके बाद मुझे एक प्रकार की विमुक्तता और निर्भयता भी प्रतीत हुई। जीवन की सम्पूर्णता का भान मुझे ऐसे ही क्षणों में हुआ। मुझे लगा कि मैंने कुछ नहीं खोया है, बल्कि कुछ पाया ही है। मृत्यु का साक्षात्कार करने के बाद मुझे लगा कि जीवन की पूर्णता मृत्यु में ही है। मृत्यु जीवन की सुनहली सध्या है।'

मृत्यु की भयावहा से निर्भय रवीन्द्र ने ७ अगस्त १९४१ ई० मे स्वर्गारोहण किया।

सुभाषचन्द्र बोस : १०

हमारे राष्ट्र-निर्माताओं मे सुभाष बोस का स्थान अद्वितीय है। वही एक व्यक्ति थे जिन्होंने भारत के सार्वजनिक जीवन में एक बार नहीं, अनेक बार महात्मा गाधी जैसे बड़े नेता से टक्कर ली। इन टक्करों में भले ही उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली हो, परन्तु उन्होंने लोकप्रियता के आगे अपने और अपने सिद्धातों को कभी नहीं झुकाया। उनकी नीति के कट्टर विरोधी भी उनकी दृढ़ता, स्पष्टवादिता और तेजस्विता की मुक्तहृदय से प्रशसा करते हैं।

बाल्यकाल से ही सुभाष विचित्र स्वभाव के थे। उड़ीसा की राजधानी कटक के एक ऊँचे कुल में उनका जन्म हुआ। उनके पिता रायबहादुर जानकीनाथ बोस कटक की म्युनिसिपैलिटी और ज़िलाबोर्ड के प्रधान तथा नगर के मेधावी और गण्यमान वकीलों मे थे। उनकी माता श्रीमती प्रभावती बोस पुराने कट्टर धार्मिक विचारों में विश्वास रखनेवाली सरल, सहृदय स्वभाव की एक सीधी-सादी स्त्री थी। सुभाष की पाच बहनें और छः भाई और थे। इनमे से सभी भाइयों ने अपने-अपने क्षेत्र मे ख्याति प्राप्त की।

सुभाष की प्रारम्भिक शिक्षा एक यूरोपियन स्कूल में हुई। इस स्कूल के प्रोटेस्टट वातावरण का बालक सुभाष के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा। धर्म के नाम पर जो ढोंग और दिखावा चलता है, उसमें सुभाष की आस्था कभी नहीं रही, यद्यपि आप प्रकृति से धार्मिक व्यक्ति थे। जीवन के अंत तक वे ब्रह्मचारी रहे, उनके चरित्र पर कोई कलङ्क नहीं लगा। चरित्र की ऐसी निर्मलता मन की धार्मिक-

वृत्तियों से ही बनती है।

स्कूल से प्रथम वर्ग में मैट्रिक की परीक्षा पास करके. इस परीक्षा में वह कलकत्ता युनिवर्सिटी में द्वितीय आये थे। सन् १९१३ ई० में उन्होंने कलकत्ता के प्रेजीडेन्सी कालेज में प्रवेश किया। इस कालेज में उनकी पढ़ाई अधिक दिन नहीं चली, क्योंकि सहसा उनका मन आध्यात्मिक वृत्तियों की ओर झुक गया। उन्होंने सोचा कि वह भी स्वामी विवेकानन्द के समान आध्यात्मिक शक्ति उपलब्ध करके विश्व में चमत्कार प्रदर्शित करेंगे। इन्हीं विचारों में डूबकर वह सोलह-सत्रह वर्ष की आयु में ही बिना किसी को सूचित किये हिमालय की ओर गुरु की खोज में चल दिये। किसी अच्छे गुरु की संगति तो उन्हें नहीं मिली लेकिन, हां कुछ दिन स्वामी विवेकानन्द के पास रहकर रामकृष्ण मिशन के बारे में ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लिया।

छः महीने तक व्यर्थ भटकने के बाद जब न सत्य के दर्शन हुए, न सद्गुरु के, तब एक दिन नवयुवक सुभाष अकस्मात घर आकर मा के चरणों में पड़ गये। मा-बाप, भाई-बहिनों तथा अन्य परिजनों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहाती हुई मा ने सुभाष को गले से लगाकर कहा, "सुब्बी ! तूने तो मुझे मार ही डाला था।"

एक तीर्थ यात्रा की चर्चा करते हुए आपने एक बार कहा था, "मुझे कृष्ण का वह रूप, जो तीर्थों में पूज्य है, आकर्षित नहीं कर पाता। मैं तो कृष्ण के उस रूप का पुजारी हूं जो उन्होंने कुरुक्षेत्र के धर्मयुद्ध में दिखलाया था।"

घर लौट आने के बाद भी सुभाष के मन में एक बेचैनी-सी समाई रही। दो वर्ष बाद उन्होंने अपने एक मित्र को पत्र लिखकर अपने मन की स्थिति बतलाई थी। आपने लिखा था, "प्रतिदिन

मेरी यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि मुझे अपने जीवन में एक उच्च और निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति करनी है। इसके लिये मुझे शरीर और मन को अभी से तैयार करना है।"

अपने जीवन का यह महान् लक्ष्य अभी तक उनके सामने पूर्ण-तया स्पष्ट नहीं हुआ था, किन्तु यह बात साफ थी कि जिस दिशा मे उनकी शिक्षा-दीक्षा हो रही थी उससे उन्हे सतोष नहीं था। माता-पिता और उनके परिजन उन्हे इंग्लैंड जाकर आई० सी० एस० पास करने की सलाह दे रहे थे। लेकिन देश का वातावरण इन सरकारी सम्मानों के विरुद्ध हो रहा था। गाधीजी की असहयोग-आधी ने देश में विप्लव-सा किया हुआ था। जलियावाला-बाग के भीषण हत्या-काड की गूँज अभी शान्त नही हुई थी। सुभाष का रक्त भी इन घटनाओं को पढ़कर खौलने लगता था। कभी-कभी वह स्वयं इस आग में कूदने का स्वप्न लेते थे। किन्तु, उनके पास के मित्रों और शुभचिन्तकों ने उनके सामने इंग्लैंड जाकर आई० सी० एस० की परीक्षा पास कर आने का प्रस्ताव रख दिया। सुभाष का मन एक अफ़सर बनकर सारा जीवन अपने गुलाम देशवासियों की गुलामी की जंजीरों को और भी दृढ़ बनाने का नहीं था। उन दिनो आपने अपने सर्वश्रेष्ठ मित्र हेमंतकुमार से कहा था, "आई० सी० एस० में सफल हो जाने के बाद मेरे आदर्शों का अंत होजायगा।"

फिर भी आप अपने स्वजनों का आग्रह न टाल सके, इंग्लैंड जाना पडा। किंतु, जाते समय भी आपने एक मित्र को लिखा, "मैं जा तो रहा हूँ, मगर मेरा मन अब भी डगमगा रहा है। मुझे अपने निश्चय पर संतोष नहीं है।"

इंग्लैंड के विलासी जीवन को देखकर आपका मन अपने देश की दरिद्रता पर और भी खिन्न हो जाता था और वह दिन-प्रतिदिन

ब्रिटेन की साम्राज्यशाही के, जो भारत की दरिद्रता का मूल कारण थी, कट्टर शत्रु बनते जाते थे।

अगस्त १९२० ई० मे आप आई० सी० एम० की परीक्षा मे उत्तीर्ण होगये। परीक्षा पास करने के बाद आपने घर लिखा, "दुर्भाग्य से मैं इस परीक्षा मे उत्तीर्ण होगया हूँ। परन्तु, मैं अफसर बनूँगा या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। मुझे लगता है कि मैं अपने देश और ब्रिटिश साम्राज्य दोनों की सेवा एकसाथ नहीं कर सकता। शीघ्र ही मुझे इन दोनो मे से एक को चुनना होगा।"

अन्त मे सुभाष ने आराम के जीवन की अपेक्षा देश-सेवा के कठिन मार्ग को ही अपने जीवन का मार्ग चुना। परीक्षायें पास होने के बाद वह 'सेक्रेटरी-आफ-स्टेट फार इंडिया'—ब्रिटेन-स्थित भारत सचिव—को अपना त्याग-पत्र देकर भारत लौट आये।

सोलह जुलाई, १९२१ ई० को बम्बई आते ही आप उसी शाम मणिभवन मे महात्मा गाधी से मिले और लगभग एक घंटे तक उनसे राजनीतिक चर्चा की। इस चर्चा मे ही उन्होने गाधीजी से कह दिया था कि "असहयोग तो मेरी समझ मे आता है, लेकिन यह अहिंसा क्या है?"

अहिंसा का अर्थ वह कभी नहीं समझे। इसी कारण राजनीतिक-क्षेत्र में उनका गाधीजी से सदा मतभेद रहा। वह राजनीति मे अहिंसा का कोई स्थान मानने के लिये तैयार नहीं थे। गाधीजी की राजनीति उन्हें बहुत विचित्र और बेजान-सी लगती थी। वह गाधीजी से भेंट करके उनके पास से दुःखी और निराश और जिन शकाओं को लिये आये थे, उन्हें लिये हुए ही लौटे।

किन्तु, निराशा का यह कुहरा जल्दी ही दूर होगया। जो उन्हें गाधीजी से नहीं मिला था वह देशबंधु चित्तरंजनदास से मिल गया।

दासबाबू को ही उन्होंने अपना राजनीतिक गुरु मान लिया। दासबाबू भी सुभाष से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने सुभाष को उन्हीं दिनों "नेशनल कालेज आफ कलकत्ता" का प्रिन्सिपल बना दिया। यह कालेज उन विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये खोला गया था, जिन्हें असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण सरकारी शिक्षणालयों से निकाल दिया गया था। यहां सुभाष ने अपने अनथक परिश्रम से युवकों का बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक स्तर ऊँचा किया। आपने यहां एक स्वयं-सेवक-सेना का सूत्रपात किया था। आपके ही शब्दों में यह सेना क्षत्रिय-भावनाओं से भरपूर थी। आपका कथन था कि युवकों में संयम और साधना होनी चाहिये। यह साधना सद्-विचारों, प्रेम और परमार्थ द्वारा सिद्ध होती है।

सार्वजनिक आन्दोलन में भाग लेने का पहला अवसर आपको तब मिला जब २५ दिसम्बर १९२१ ई० को प्रिन्स-आफ़-वेल्स कलकत्ता आये। सारे देश ने एक स्वर से प्रिन्स के स्वागत का विरोध किया था। कलकत्ते में इस विरोध-प्रदर्शन का नेतृत्व दासबाबू और सुभाष ने किया। इस प्रदर्शन के अभियोग में सुभाष को छः महीने की कैद का दंड मिला। यह आपकी प्रथम जेलयात्रा थी।

सितम्बर १९२२ ई० में आप जेल से छूटे तो सारे बंगाल में भारी बाढ़ आने के कारण हजारों गाँव बह गये थे और लाखों आदमियों की क्षति हुई थी। कुछ स्वयंसेवक साथियों को लेकर आप बाढ़-पीड़ितों की सेवा में लग गये। इस सेवा-फन्ड के लिये आपने चार लाख रुपया इकट्ठा किया।

उन्हीं दिनों दासबाबू ने 'स्वराज्य दल' का संगठन किया। सुभाष बोस इस दल के प्रधानमंत्री भी थे, और इसके मुखपत्र 'फारवर्ड' के प्रधान संपादक भी। इसका संचालन आपने बहुत ही सुन्दर रीति

से किया। बड़े-बड़े अनुभवी पत्रकार भी आपकी योग्यता तथा कार्य-कौशल से आश्चर्य में रह गये।

जब स्वराज्य-दल ने कलकत्ता कार्पोरेशन के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया तो सुभाष को दिन-रात काम करना पड़ा। स्वराज्य-दल की जीत का श्रेय सुभाष को ही था। चुनाव में सफल होने के बाद दासबाबू कार्पोरेशन के मेयर और सुभाष बाबू चीफ़ एक्ज़ीक्यूटिव अफ़सर बने। उस समय सुभाष की आयु २७ वर्ष थी। इस पद का नियत वेतन ३०००) रु० मासिक था, किन्तु, आपने केवल १५००) रु० लेने का निश्चय किया। इस राशि का भी अधिक भाग आप पीड़ितो और दरिद्र व्यक्तियों की सहायता में व्यय कर देते थे।

आपके प्रबन्ध ने कार्पोरेशन की पुरानी शाही व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर दिया। कार्पोरेशन के अधिकारी खादी के कपड़े पहने दिखाई देने लगे, सार्वजनिक सड़कों के नाम बदलकर भारतीय नेताओ के नाम पर रखे गये और स्कूलों में निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। वायसरायों को मानपत्र देना बन्द हो-गया। उनके स्थान पर राष्ट्रीय नेताओं का अभिनन्दन किया जाने लगा।

सुभाष की इन विप्लवकारी योजनाओं को ब्रिटिश-साम्राज्य के लिये विघातक समझकर सरकार ने उन्हें सहसा २५ अक्टूबर, १६२४ ई० की सुबह को नज़रबन्द कर दिया। उस समय के अर्ध-सरकारी पत्र स्टेट्समैन ने सुभाष पर यह अभियोग लगाया कि सुभाष एक गुप्त क्रान्तिकारी दल के सदस्य हैं। किन्तु सरकार स्वयं कोई विशेष अभियोग प्रस्तुत नहीं कर सकी। दासबाबू के नेतृत्व में जनता ने सरकार से मांग की कि सुभाष बाबू को या तो छोड़ दिया जाय या

उनपर खुली अदालत में मुकदमा चलाया जाय। खिसियाकर सरकार ने उन्हें बर्मा की माडले जेल में भेज दिया। सारे देश ने इस अन्यायपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध आवाज उठाई। सुभाष की कीर्त्ति सरकार के अत्याचारों के कारण देश-भर में व्याप्त होगई।

माडले की जेल उन दिनों पृथ्वी पर साक्षात् नरक का नमूना थी। यहाँ आकर आप बीमार होगये। फेफड़े कमजोर होगये और भार भी बहुत घट गया। तब डाक्टरों की चेतावनी पर सरकार ने उन्हें इलाज के लिये स्विट्जरलैंड जाने की शर्त पर छोड़ना चाहा। सुभाष ने शर्त मानने से इन्कार कर दिया। तब सरकार को बिना शर्त छोड़ना पड़ा। सोलह मई, १६२७ ई० को तीन साल की कड़ी नजरबन्दी के बाद आप विमुक्त हुए।

इस बीच दासबाबू की मृत्यु हो चुकी थी। जेल से छूटने के बाद मद्रास कांग्रेस के अध्यक्ष डाक्टर अन्सारी ने उन्हें कांग्रेस का प्रधानमंत्री नियुक्त किया। उन दिनों कुछ कांग्रेसी नेता असहयोग से थककर कौंसिलों में प्रवेश करके शासन चलाने के पक्ष में थे। सुभाष इन नेताओं की समझौता-पसन्द मनोवृत्ति के विरुद्ध थे। कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में जब शासन-कार्य मे सहयोग देने का प्रस्ताव नेहरू रिपोर्ट के रूप में आया तो सुभाष ने कड़े शब्दों में उसका विरोध किया। इसके बाद १६२८ ई० के दिसम्बर मास में कलकत्ते में युवक कांग्रेस की बैठक के सामने भी आपने असहयोग-विरोधी परिवर्तनवादी नेताओं की आलोचना की।

सुभाष स्वभाव से विद्रोही और प्रगतिवादी थे। अधिकारों की भिक्षा माँगने और झुकने की नीति से वे कभी सहमत नहीं हुए। इसीलिए जब ३१ अक्टूबर १६२६ ई० को कांग्रेसी नेताओं ने भारत के लिए औपनिवेशिक-स्वराज्य माँगने की योजना बनाई तो उसके मस-

विदे पर आपने हस्ताक्षर नहीं किए । आप भारत के लिए पूर्ण स्व-राज्य चाहते थे, समझौते वाला अधूरा स्वराज्य नहीं ।

आखिर कांग्रेस ने भी अगले वर्ष लाहौर मे पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य घोषित कर दिया । सुभाष ने इस प्रस्ताव का हार्दिक स्वागत किया । किन्तु आपने गाँधीजी के दूसरे प्रस्ताव का जबर्दस्त विरोध किया, जिसमें वायसराय लार्ड अरविन को बम-दुर्घटना से बच जाने पर बधाई दी गई थी ।

आपने उस समय कांग्रेस मे दो प्रस्ताव रखे, पहला यह कि देश मे समानान्तर सरकार बना दी जाय और दूसरा यह कि कांग्रेस किसानों व मजदूरो से सम्पर्क बढ़ाए । कांग्रेस के खुले अधिवेशन में आपने गाँधीजी के प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा था, "हमारे कई नेता आयु में हम से बडे हैं, उनकी देश-सेवा का अवधिकाल भी हम से अधिक है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उनकी सभी बातें मानने को विवश हों । हमारा अपना भी कुछ निर्णय और अनु-भव है । हमारी राय में उसका मूल्य पुराने नेताओं की बेजान योज-नाओं से बहुत अधिक है ।"

गांधीजी से मतभेद होते हुए भी आप उनके नेतृत्व मे चलाये गए सब आन्दोलनों मे सक्रिय-भाग लेते रहे । २१ अप्रैल १९३० ई० को आप कानून भंग करने के अपराध मे पकडे गए और अलीपुर जेल मे रखे गए । इसी जेल के कुछ पठान वार्डरों ने आप पर लाठी-प्रहार किया था । इससे आप कई घण्टे मूर्छित रहे थे ।

जेल में आपका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था । तब सरकार ने उन्हें स्वास्थ्य-लाभ के लिए विदेश-यात्रा की अनुमति दे दी । सुभाष वियाना पहुँचे वहां उन दिनों श्री विठलभाई पटेल भी अपना इलाज करा रहे थे । विठलभाई पटेल ने सुभाष को यूरोप में भारतीयों के पक्ष

में आन्दोलन करने की सलाह दी । दोनों ने मिलकर एक वक्तव्य निकाला जिसमें गांधीजी की अहिंसात्मक नीति पर अविश्वास प्रगट किया गया था ।

इसके बाद आपने यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण किया । प्राग के लार्ड मेयर उन्हें स्वयं लेने आए । आप रोम भी गए । वहाँ आप भूतपूर्व सम्राट् अमानुल्ला से भी मिले । आयरलैंड के डी वलेरा से आपकी भेंट हुई । तीन-चार वर्ष आप विदेशों में भ्रमण करके भारतीय स्वतन्त्रता के अनुकूल वातावरण बनाते रहे ।

यूरोप से वापिस आने पर आप ही हरिपुर कांग्रेस के प्रधान बने । सुभाष ने अपने भाषण में सरकार की आने वाली 'फेडरल योजना' का तीव्र विरोध किया । इससे गांधीजी सुभाष के विरुद्ध होगए । सुभाष ने खुले आम कह दिया, 'पुराने नेता सरकार से सुलह करना चाहते हैं और मैं एक वामपंथी प्रधान उनकी राह में रोड़ा हूं ।' इस वक्तव्य ने गांधीवादी कांग्रेसी नेताओं को सुभाष के विरुद्ध कर दिया । अगले वर्ष के लिए कांग्रेस के अध्यक्ष का जब चुनाव हुआ तो सुभाष फिर २०३ वोटों से जीते । तब गांधीजी ने कांग्रेस को छोड़ देने की इच्छा प्रगट की । सुभाष यह नहीं चाहते थे कि उनके कारण गांधीजी को कांग्रेस से बाहर जाना पड़े । इसलिए वह स्वयं कांग्रेस से अलग होगए । बाहर आकर उन्होंने 'फार्वर्ड-ब्लाक' का संगठन किया, किन्तु गांधीजी को ही वे राष्ट्र का सम्मानित नेता मानते रहे । मतभेद होते हुए भी गांधीजी में उनकी अगाध श्रद्धा थी ।

इसके कुछ दिन बाद 'हालवेल' की मूर्ति के आंदोलन के संबन्ध में 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत सरकार ने सुभाष को गिरफ्तार कर लिया । दूसरा विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो चुका था । ऐसे स्वर्णीय अवसर को आप जेल की सींखचों में बन्द होकर नहीं बिताना चाहते

थे। अतः आपने जेल में आमरण उपवास की घोषणा कर दी। इस घोषणा से डरकर सरकार ने सुभाष को जेल से छोड़ दिया, लेकिन घर में नजरबन्द कर दिया। घर के चारों ओर संतरियों का कड़ा पहरा था। हर दो घंटे के बाद चाहे दिन हो चाहे रात, संतरी झांक-कर यह देख लेता था कि सुभाष बाबू क्या कर रहे हैं?

इसलिए सुभाष बाबू को संतरी के आँखों में धूल झोंककर घर से भाग जाना बड़ा कठिन काम मालूम हुआ। किन्तु कठिन कामों में ही सुभाष बाबू को आनन्द आता था। बहुत सोचने के बाद उन्होंने एक तरकीब निकाली। भागने से कुछ दिन पहले यह ऐलान कर दिया गया था कि आप समाधि में हैं। दुनिया के किसी भी आदमी से नहीं मिलेंगे। संतरी को भी आपने अपने निश्चय की सूचना दे दी। इस सूचना के बाद आपने दरवाजे की ओर पीठ करके समाधि लगा ली। भोजन लाने वाले को भी आपने अन्दर आने से मना कर दिया और अखंड समाधि लगाने की घोषणा कर दी। बहुत दिनों तक आप लगभग एक ही आसन से बैठे रहे। संतरी जब भी अन्दर झांकता तो उन्हें मूर्तिवत बैठे पाता। इतने दिनों में उनके मुख पर काफी लम्बी दाढ़ी निकल आयी थी। इस दाढ़ी ने ही उन्हें मौलवी के वेश में भाग जाने की सहूलियत दी।

निकलते वक्त आपने मौलवी का वेश बना लिया था। पंजाब मेल से चलकर आप पेशावर पहुँचे। वहाँ एक हमदर्द पठान के घर ठहरे। वह पठान अनपढ़ था लेकिन धर्मान्ध नहीं था। उस पठान ने बातचीत के सिलसिले में जब यह कहा 'मजहब हैवान को इन्सान बनाने के लिये हैं।' तो आपको अपने देश के मुसलमानों की कट्टरता पर बड़ा दुःख हुआ। पेशावर में आपको अपना एक सहकारी भगत-राम मिला। उसे आपने अपने साथ ले लिया। भगतराम पठानों

की भाषा धाराप्रवाह बोल सकता था। देखने में भी वह पठान लगता था। उसका नाम रहमतखां रखा गया। पेशावर से चलकर सुभाष बाबू जमरूद के किले के पास से निकले और शाम होते गढ़ी पहुँच गये। गढ़ी में दो दिन विश्राम किया। तीसरे दिन अदांशरीफ़ पहुँचे। रास्ते के खूँखार आक्रमणों से आप बालबाल बचे। वहाँ से आप काबुल की ओर चल पड़े। उन दिनों काबुल नदी में बाढ़ थी। उसे पार करना मौत से खेलना था।

कोई नाववाला नदी पार कराने के लिए नहीं मिला। आखिर मशकों पर बैठकर लहरों में डूबते नदी पार की। नदी के दूसरी ओर लारियों का अड्डा था। बड़ी देर तक लारियों की इन्तज़ार करते रहे। कोई खाली लारी नहीं मिली। शाम ढलने के बाद लारी आई, किन्तु वह खचाखच भरी हुई थी। ड्राईवर से कह-सुनकर आप लारी की छत पर बैठ गये। उसी लारी ने आपको काबुल पहुँचाया। काबुल में कोई ठहरने का ठिकाना न था। बहुत कोशिश के बाद एक सराय मिली जो इतनी तंग और गंदी थी कि घुड़साल नज़र आती थी। जेल की काल-कोठरी भी उससे अच्छी होती है। बाहर कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। आप दिन-भर के थके और भूखे थे। रहमतखां (भगतराम) बाज़ार से खाना लाया। सर्दी को रोकने के लिये लकड़ियाँ जलाकर रात गुज़ारी। कुछ दिन इस सराय में रुकना पड़ा। होटल का कच्चा और गन्दा खाना खाते-खाते आपको पेचिश की बीमारी होगई। रहमतखां शहर से डाक्टर बुला लाया। यह डाक्टर भी एक भारतीय क्रांतिकारी था। इस डाक्टर ने बर्लिन में आज़ाद-हिंद-फौज का संघटन किया था। उससे मिलकर सुभाष बाबू को बड़ा सन्तोष हुआ।

किन्तु काबुल का एक गुप्तचर सुभाष बाबू को संदेह की दृष्टि से

देखने लगा था। उसने उन्हें पुलिस में ले जाने की धमकी भी दी थी। बड़ी कठिनाई से उससे पीछा छुड़ाया। रिश्वत की एक बड़ी रकम देनी पड़ी। तब आपने काबुल में रूसी राजदूत के आफिस तक पहुँचने का निश्चय किया। आपका ख्याल था कि रूसी आफिस से आपको रूस जाने की सहायता मिल जायगी, किंतु आपका यह विश्वास गलत साबित हुआ। सराय मे रहते-रहते आपके पीछे कई जासूस लग गये थे। इसलिये सराय को छोड़ना पड़ा और आप डाक्टर की सलाह से करीमुल्लाखाँ के यतीमखाने मे चले गये। वहा से आपने इटली के राजदूत से भेंट करने की कोशिश की। यह कोशिश कामयाब होगई। इटली के राजदूत ने भी आपसे मिलने की इच्छा प्रगट की। उसे एक पत्र भेजा गया, जिसमे भारत की शोचनीय अवस्था का वर्णन था और भारत की आजादी के लिये सहयोग मागा गया था। राजदूत ने इनके पत्र के उत्तर मे जो पत्र लिखा था उसमे यह विश्वास दिलाया था कि इटली की ओर से उनको पूरा सहयोग प्राप्त होगा और यह भी लिखा था कि आपका खत मैं रोम भेज देना चाहता हूँ, शीघ्र ही इस विषय मे रोम या बर्लिन से कुछ आदेश आने वाले हैं। इसलिये मैं जरूरी समझता हूँ कि आपसे जल्दी ही मुलाकात हो सके। कृपया शीघ्र मुलाकात का समय निश्चित करें।

इस बीच अग्रेज सरकार ने भी अपने गुप्तचर काबुल भेज दिये थे। गुप्तचरों की यह टुकड़ी हथियार बेचने वाले अग्रेज सौदागरों के वेश मे शहर के बाजारों मे चक्कर काट रही थी। काबुल के कुछ कम्यूनिस्ट भी आपके विरुद्ध थे। वे भी सुभाष बोस को गिरफ्तार कराने मे अंग्रेज जासूसों की मदद कर रहे थे।

इन ख़तरों से बचकर चलना बड़ा कठिन काम था। कई बार सुभाष बाबू बहुत निराश हो जाते थे। किन्तु देश को आजाद करने

की जबर्दस्त इच्छा आपको अपने मार्ग पर निरन्तर चलने की प्रेरणा देती थी।

कुछ दिन बाद सुभाष बाबू के पास इटली के राजदूत का एक पत्र आया, जिसमे लिखा था—

"हमें बड़ा अफ़सोस है कि आपके ठहरने का कोई खास प्रबन्ध नहीं है। हमारे हाथ बंधे हुए हैं। अफ़गानिस्तान की सरकार तटस्थ सरकार है। उससे हमें किसी किस्म की सहायता नहीं मिल सकती। हां, यदि आप रोम या बर्लिन जाना पसंद करेंगे तो हम बड़ी खुशी से आपके लिये आवश्यक प्रबंध कर देंगे।

"रोम में आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आपके चेहरे की भव्य-स्मृति आज भी मेरे हृदय पर अंकित है। कृपया अपनी सुविधा देखते हुए मुझ से मिलिये। हमारे गुप्तचरों ने पता दिया है कि अंग्रेजों ने आपकी खोज के लिये गुप्तचरों का जाल बिछा दिया है। आप खूब होशियारी से रहिये।"

दूसरे दिन इटली का राजदूत शिकार के बहाने जंगल की ओर घूमने गया। वहा सुभाष बाबू से भेंट होने का निश्चय हुआ था। भेंट का समय सात बजे तय हुआ था। सात बजने मे पाच मिनट पर एक मोटर उधर से लौट रही थी। उस पर इटली का झंडा था। वही राजदूत की मोटर थी। किन्तु वह सुभाष बाबू के पास से तेजी से निकल गई। दो मिनट बाद दूसरी मोटर आई। वह उनके पास रुक गई। इटली का राजदूत उसी में बैठा था। उसकी मोटर पर बैठकर आप इटली के राजदूतावास में पहुंचे, जहा दो घंटे तक बात-चीत होती रही। सुभाष बाबू ने इटली से फौजी सहायता मांगी। राजदूत ने सुभाष बाबू को सलाह दी कि वह रोम और बर्लिन जाकर मुसोलिनी और हिटलर से मिलें।

की भाषा धाराप्रवाह बोल सकता था। देखने में भी वह पठान लगता था। उसका नाम रहमतखां रखा गया। पेशावर से चलकर सुभाष बाबू जमरूद के किले के पास से निकले और शाम होते गढ़ी पहुँच गये। गढ़ी में दो दिन विश्राम किया। तीसरे दिन अदाशरीफ़ पहुँचे। रास्ते के खूँखार आक्रमणों से आप बालबाल बचे। वहाँ से आप काबुल की ओर चल पड़े। उन दिनों काबुल नदी में बाढ़ थी। उसे पार करना मौत से खेलना था।

कोई नाववाला नदी पार कराने के लिए नहीं मिला। आखिर मशकों पर बैठकर लहरों में डूबते नदी पार की। नदी के दूसरी ओर लारियों का अड्डा था। बड़ी देर तक लारियों की इन्तज़ार करते रहे। कोई खाली लारी नहीं मिली। शाम ढलने के बाद लारी आई, किन्तु वह खचाखच भरी हुई थी। ड्राईवर से कह-सुनकर आप लारी की छत पर बैठ गये। उसी लारी ने आपको काबुल पहुँचाया। काबुल में कोई ठहरने का ठिकाना न था। बहुत कोशिश के बाद एक सराय मिली जो इतनी तंग और गंदी थी कि घुड़साल नज़र आती थी। जेल की काल-कोठरी भी उससे अच्छी होती है। बाहर कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। आप दिन-भर के थके और भूखे थे। रहमतखां (भगतराम) बाज़ार से खाना लाया। सर्दी को रोकने के लिये लकड़ियाँ जलाकर रात गुज़ारी। कुछ दिन इस सराय में रुकना पड़ा। होटल का कच्चा और गन्दा खाना खाते-खाते आपको पेचिश की बीमारी होगई। रहमतखां शहर से डाक्टर बुला लाया। यह डाक्टर भी एक भारतीय क्रांतिकारी था। इस डाक्टर ने बर्लिन में आज़ाद-हिंद-फौज का संघटन किया था। उससे मिलकर सुभाष बाबू को बड़ा सन्तोष हुआ।

किन्तु काबुल का एक गुप्तचर सुभाष बाबू को संदेह की दृष्टि से

सगठन शुरू कर दिया । आजाद-हिन्द-फौज के साथ आपने एक आजाद-हिन्द-सरकार भी बनाई, जिसे लगभग उन्नीस देशों की सरकारों ने एक व्यवस्थित सरकार के रूप में मान लिया था।

आजाद-हिन्द-फौज का इतिहास भारत के आजादी के इतिहास में सुनहरी अक्षरों मे लिखा जायगा। इससे पूर्व कभी भारत की स्वाधीनता के लिये सेना का इतना जमाव नहीं किया गया था।

अंग्रेज़-फौज जब मलाया से भागी तो मलाया में सात लाख हिन्दुस्तानी थे। अंग्रेज अफसर इन हिन्दुस्तानी नागरिकों को अरक्षित अवस्था में छोडकर भाग गये थे। इन नागरिकों में से बहुत से जवान आजाद-हिन्द-फौज मे भर्ती होगये।

कुछ दिन बाद सिंगापुर का पतन होगया।

आजाद-हिंद-फौज का झण्डा तिरगा ही था। 'जय हिन्द' इसकी सलामी थी। हिन्दू या मुसलमान सब एक-दूसरे से 'जय हिन्द' कहकर भेंट करते थे। सब सिपाही एकसाथ भोजन करते थे। इस फौज की भाषा हिन्दुस्तानी और रोमन थी। जो लोग इस फौज में भर्ती होते थे उन्हें निम्न प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने पडते थे :—

"मैं स्वयं आजाद-हिद-फौज मे भर्ती होता हूँ। भारत की आजादी के लिये मैं तन, मन, धन न्यौछावर कर देने की दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं भारत की स्वतन्त्रता के लिये अपने प्राणों की बाज़ी लगाने को भी तैयार हूँ। मैं स्वार्थ का परित्याग कर अपने देश की सेवा करूँगा। देशवासियों से चाहे वह किसी भी जाति, सम्प्रदाय व प्रान्त के हों किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखूँगा और सभी भारतीयों को अपना भाई समझूँगा।"

वहा भी आजाद-हिन्द-फौज की भर्ती हुई। सिंगापुर में आजाद-हिन्द-फौज की पहली परेड के समय सुभाष बाबू ने जो भाषण दिया,

की ज़बर्दस्त इच्छा आपको अपने मार्ग पर निरन्तर चलने की प्रेरणा देती थी।

कुछ दिन बाद सुभाष बाबू के पास इटली के राजदूत का एक पत्र आया, जिसमें लिखा था—

"हमें बड़ा अफ़सोस है कि आपके ठहरने का कोई खास प्रबन्ध नहीं है। हमारे हाथ बंधे हुए हैं। अफ़गानिस्तान की सरकार तटस्थ सरकार है। उससे हमें किसी किस्म की सहायता नहीं मिल सकती। हां, यदि आप रोम या बर्लिन जाना पसंद करेंगे तो हम बड़ी खुशी से आपके लिये आवश्यक प्रबंध कर देंगे।

"रोम में आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आपके चेहरे की भव्य-स्मृति आज भी मेरे हृदय पर अंकित है। कृपया अपनी सुविधा देखते हुए मुझ से मिलिये। हमारे गुप्तचरों ने पता दिया है कि अंग्रेज़ों ने आपकी खोज के लिये गुप्तचरों का जाल बिछा दिया है। आप खूब होशियारी से रहिये।"

दूसरे दिन इटली का राजदूत शिकार के बहाने जंगल की ओर घूमने गया। वहां सुभाष बाबू से भेंट होने का निश्चय हुआ था। भेंट का समय सात बजे तय हुआ था। सात बजने में पांच मिनट पर एक मोटर उधर से लौट रही थी। उस पर इटली का झंडा था। वही राजदूत की मोटर थी। किन्तु वह सुभाष बाबू के पास से तेज़ी से निकल गई। दो मिनट बाद दूसरी मोटर आई। वह उनके पास रुक गई। इटली का राजदूत उसी में बैठा था। उसकी मोटर पर बैठकर आप इटली के राजदूतावास में पहुंचे, जहां दो घंटे तक बात-चीत होती रही। सुभाष बाबू ने इटली से फ़ौजी सहायता मांगी। राजदूत ने सुभाष बाबू को सलाह दी कि वह रोम और बर्लिन जाकर मुसो-लिनी और हिटलर से मिलें।

"इस प्रतिज्ञापत्र पर साधारण स्याही से हस्ताक्षर नहीं करना है। वही आगे बढ़े जिसकी नसों में सच्चा भारतीय खून बहता हो। जिसे अपने प्राणों का मोह न हो और जो आजादी के लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये तैयार हो।"

हस्ताक्षर करने के लिये जो भीड़ आगे बढ़ी उसमें सबसे पहले सत्रह लड़कियां थीं, इन्होंने अपनी कमर से छुरियां निकालकर अपनी अंगुलियों पर घाव किया और बहते खून से प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये।

सुभाष बाबू की आज़ाद-हिन्द-फौज मे महिलाओं का भी एक दल था। इसकी नायिका कर्नल लक्ष्मीबाई थीं। इस दल में हजारों कुलीन घरानों की लड़कियाँ सैनिक-शिक्षा पा रही थीं। लक्ष्मीबाई झाँसी-रेजीमेंट की कमांडर होने के अतिरिक्त आजाद-हिन्द-सरकार के मंत्रिमंडल की सदस्या भी थीं।

पाँच जुलाई १९४३ ई० के दिन सुभाषबाबू ने आज़ाद-हिन्द-फौज का नेतृत्व अपने हाथ में लिया था। चार महीने बाद आपने एक स्थायी-सरकार की स्थापना भी की थी। पूर्वी एशिया के प्रत्येक देश में इस की शाखाएं संगठित कर दी गईं।

बर्मा से आज़ाद-हिन्द-फौज जब पहले-पहल आज़ादी की लड़ाई लड़ने के लिए चली थी उस समय फौज के सामने आपने बड़ा ही ओजस्वी भाषण दिया। उस भाषण की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"क्षितिज के उस पार, इन धूमिल पहाड़ों की ओट मे, हमारी जन्मभूमि है। इसी भूमि पर स्वर्ग के देवता अवतरित हुए थे, इसी भूमि की धूलि में राम और कृष्ण घुटनों के बल चले थे। इसी धूलि मे हमने और तुमने जन्म लिया है। हमारी नस-नस मे इसी भूमि का प्यार गुथा हुआ है।

संगठन शुरू कर दिया । आजाद-हिन्द-फौज के साथ आपने एक आजाद-हिन्द-सरकार भी बनाई, जिसे लगभग उन्नीस देशों की सरकारों ने एक व्यवस्थित सरकार के रूप में मान लिया था ।

आजाद-हिन्द-फौज का इतिहास भारत के आजादी के इतिहास में सुनहरी अक्षरों में लिखा जायगा । इससे पूर्व कभी भारत की स्वाधीनता के लिये सेना का इतना जमाव नहीं किया गया था ।

अंग्रेज़-फौज जब मलाया से भागी तो मलाया में सात लाख हिन्दुस्तानी थे । अंग्रेज़ अफ़सर इन हिन्दुस्तानी नागरिकों को अरक्षित अवस्था में छोड़कर भाग गये थे । इन नागरिकों में से बहुत से जवान आजाद-हिन्द-फौज में भर्ती होगये ।

कुछ दिन बाद सिंगापुर का पतन होगया ।

आजाद-हिंद-फौज का झण्डा तिरंगा ही था । 'जय हिन्द' इसकी सलामी थी । हिन्दू या मुसलमान सब एक-दूसरे से 'जय हिन्द' कहकर भेंट करते थे । सब सिपाही एकसाथ भोजन करते थे । इस फौज की भाषा हिन्दुस्तानी और रोमन थी । जो लोग इस फौज में भर्ती होते थे उन्हें निम्न प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे :—

"मैं स्वयं आजाद-हिंद-फौज में भर्ती होता हूँ । भारत की आज़ादी के लिये मैं तन, मन, धन न्यौछावर कर देने की दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूँ । मैं भारत की स्वतन्त्रता के लिये अपने प्राणों की बाज़ी लगाने को भी तैयार हूँ । मैं स्वार्थ का परित्याग कर अपने देश की सेवा करूँगा । देशवासियों से चाहे वह किसी भी जाति, सम्प्रदाय व प्रान्त के हों किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखूँगा और सभी भारतीयों को अपना भाई समझूँगा ।"

वहां भी आजाद-हिन्द-फौज की भर्ती हुई । सिंगापुर में आजाद-हिन्द-फौज की पहली परेड के समय सुभाष बाबू ने जो भाषण दिया,

रंगून पर अँग्रेजों का फिर कब्जा होने से पहले ही सुभाष बाबू हवाई जहाज़ से जापान के लिए रवाना होगए थे। वह जहाज दुर्घटना का शिकार होगया। जहाज़ को आग लगी, वह आग ही भारत के लाखों युवकों के हृदय-सम्राट् श्री बोस की चिता बन गई। आज़ादी के दीवाने ने आज़ादी के लिए लड़ते हुए प्राण त्याग दिए।

"इस प्रतिज्ञापत्र पर साधारण स्याही से हस्ताक्षर नहीं करना है। वही आगे बढ़े जिसकी नसों में सच्चा भारतीय खून बहता हो। जिसे अपने प्राणों का मोह न हो और जो आज़ादी के लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये तैयार हो।"

हस्ताक्षर करने के लिये जो भीड़ आगे बढ़ी उसमें सबसे पहले सत्रह लड़कियां थीं, इन्होंने अपनी कमर से छुरियां निकालकर अपनी अंगुलियों पर घाव किया और बहते खून से प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये।

सुभाष बाबू की आज़ाद-हिन्द-फौज में महिलाओं का भी एक दल था। इसकी नायिका कर्नल लक्ष्मीबाई थीं। इस दल में हज़ारों कुलीन घरानों की लड़कियाँ सैनिक-शिक्षा पा रही थीं। लक्ष्मीबाई झाँसी-रेजीमेंट की कमांडर होने के अतिरिक्त आज़ाद-हिन्द-सरकार के मंत्रिमंडल की सदस्या भी थीं।

पाँच जुलाई १६४३ ई० के दिन सुभाषबाबू ने आज़ाद-हिन्द-फौज का नेतृत्व अपने हाथ में लिया था। चार महीने बाद आपने एक स्थायी-सरकार की स्थापना भी की थी। पूर्वी एशिया के प्रत्येक देश में इस की शाखाएं संगठित कर दी गईं।

बर्मा से आज़ाद-हिन्द-फौज जब पहले-पहल आज़ादी की लड़ाई लड़ने के लिए चली थी उस समय फौज के सामने आपने बड़ा ही ओजस्वी भाषण दिया। उस भाषण की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"क्षितिज के उस पार, इन धूमिल पहाड़ों की ओट में, हमारी जन्मभूमि है। इसी भूमि पर स्वर्ग के देवता अवतरित हुए थे, इसी भूमि की धूलि में राम और कृष्ण घुटनों के बल चले थे। इसी धूलि में हमने और तुमने जन्म लिया है। हमारी नस-नस में इसी भूमि का प्यार गुथा हुआ है।

"अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी" के मुकदमे की पैरवी के लिए आपको दक्षिण-अफ्रीका जाना पड़ा।

दक्षिण-अफ्रीका से ही गाधीजी का वास्तविक जीवन शुरू होता है। अब तक जो संस्कार उनके मन मे थे, उनकी परीक्षा का समय आगया।

दक्षिण-अफ्रीका में उन दिनो भारतीयो के साथ बडा बुरा व्यवहार किया जाता था। आपका मन इस व्यवहार से विद्रोही हो उठा। अदालत मे जब आप अपने केस की पैरवी करने गए तो जज ने आपसे पगडी उतारने को कहा। आपने इसे अपना अपमान समझा और बिना पगडी उतारे बाहर चले आए। यह घटना अखबारो मे छपी। दक्षिण-अफ्रीका के सब भारतीयों का ध्यान आपकी ओर खिच गया। इसके कुछ दिन बाद एक और घटना होगई। आप रेलगाडी के प्रथम दर्जे के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे, एक अँग्रेज ने आकर उन्हे उतारना चाहा। आपने उसे टिकट दिखाया। अँग्रेज़ ने टिकट की परवाह किए बिना उन्ह धकेलकर नीचे उतार दिया। वहाँ अँग्रेजो द्वारा उनका कई बार अपमान हुआ। इन अपमानो के बाद गाधीजी उद्विग्न रहने लगे।

अन्त में अपने मुवक्किल के केस का फैसला अदालत की सहायता के बिना ही करवाकर आप दक्षिण-अफ्रीका के भारतीयो का संगटन करने के काम में लग गए। गाधीजी चाहते थे कि वे अँग्रेजो के अपमानपूर्ण व्यवहार का सामूहिक रूप से उत्तर दे सके। गाधीजी ने इसी उद्देश्य से वहाँ 'नेटाल इंडियन काग्रेस' की स्थापना की। इस संस्था द्वारा वहाँ के भारतीयों ने आत्म-सम्मान का पाठ सीखा।

संगठन के इन प्रयत्नों ने वहाँ के अँग्रेजों को गाधीजी का शत्रु बना दिया। कई बार उन्होंने गाधीजी की हत्या के प्रयत्न किए, किंतु

रंगून पर अँग्रेज़ों का फिर कब्ज़ा होने से पहले ही सुभाष बाबू हवाई जहाज़ से जापान के लिए रवाना होगए थे। वह जहाज दुर्घटना का शिकार होगया। जहाज़ को आग लगी, वह आग ही भारत के लाखों युवकों के हृदय-सम्राट् श्री बोस की चिता बन गई। आज़ादी के दीवाने ने आज़ादी के लिए लड़ते हुए प्राण त्याग दिए।

भारत आते ही आपने गोखले की सलाह मानकर भारत का भ्रमण शुरू कर दिया। वीरमगाम में जकात के सम्बन्ध में जनता बड़ी दुःखी थी। आपने उनका दुःख वायसराय के सामने रखा। वायसराय ने इन शिकायतों पर उचित ध्यान दिया। इससे काठियावाड़ तथा भारत की जनता आपकी ओर आकृष्ट हुई।

वर्ष भर देश का दौरा करने के बाद आप अहमदाबाद लौट आये। यहा आकर आपने साबरमती नदी के किनारे 'सत्याग्रह आश्रम' की नींव रखी। किंतु देश के दुःखी किसानों की पुकार ने आपको आश्रम में चैन से नहीं बैठने दिया। सबसे पहले विहार के चम्पारन ज़िले के क़िसानों ने आकर गाधीजी से शिकायत की कि वहा के अंग्रेज जमींदार उनपर बड़ा अत्याचार करते हैं। आपने स्वयं चम्पारन जाकर जाच की और किसानो की शिकायते सरकार के सामने रखीं। पहले तो सरकार ने ध्यान नहीं दिया, किंतु जब सत्याग्रहियों के जत्थे जेलों को भरने लगे तो सरकार को गाधीजी के सुझाव मानने पड़े। इस विजय ने गाधीजी का यश देशभर मे फैला दिया।

चम्पारन से आपको अहमदाबाद की मिलों के मालिकों व मजदूरों का झगडा निपटाने के लिये आना पड़ा। आपने मिल मालिकों को समझाने का बहुत प्रयत्न किया, किंतु वे नहीं माने। तब, आपने मजदूरों को हड़ताल करने की सलाह दी। हड़ताल का आंदोलन कुछ मन्द होने लगा तो आपने उपवास की घोषणा की। यह आपके जीवन का पहला सार्वजनिक उपवास था। तीन दिन के उपवास के बाद ही मिल-मालिकों ने मजदूरों से समझौता कर लिया।

सन् १६१४ ई० में जब पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ तो गाधीजी ने धन और जन से अंग्रेज़ों की सहायता की। उस समय आपको अंग्रेजों की सचाई मे विश्वास था। अंग्रेज़ों ने युद्ध मे विजयी होने के बाद भारत

"अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी" के मुक़दमे की पैरवी के लिए आपको दक्षिण-अफ्रीका जाना पड़ा।

दक्षिण-अफ्रीका से ही गांधीजी का वास्तविक जीवन शुरू होता है। अब तक जो संस्कार उनके मन में थे, उनकी परीक्षा का समय आगया।

दक्षिण-अफ्रीका में उन दिनों भारतीयों के साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया जाता था। आपका मन इस व्यवहार से विद्रोही हो उठा। अदालत में जब आप अपने केस की पैरवी करने गए तो जज ने आपसे पगड़ी उतारने को कहा। आपने इसे अपना अपमान समझा और बिना पगड़ी उतारे बाहर चले आए। यह घटना अखबारों में छपी। दक्षिण-अफ्रीका के सब भारतीयों का ध्यान आपकी ओर खिंच गया। इसके कुछ दिन बाद एक और घटना होगई। आप रेलगाड़ी के प्रथम दर्जे के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे, एक अँग्रेज़ ने आकर उन्हें उतारना चाहा। आपने उसे टिकट दिखाया। अँग्रेज़ ने टिकट की परवाह किए बिना उन्हें धकेलकर नीचे उतार दिया। वहाँ अँग्रेज़ों द्वारा उनका कई बार अपमान हुआ। इन अपमानों के बाद गांधीजी उद्विग्न रहने लगे।

अन्त में अपने मुवक्किल के केस का फैसला अदालत की सहायता के बिना ही करवाकर आप दक्षिण-अफ्रीका के भारतीयों का संगठन करने के काम में लग गए। गांधीजी चाहते थे कि वे अँग्रेज़ों के अपमानपूर्ण व्यवहार का सामूहिक रूप से उत्तर दे सकें। गांधीजी ने इसी उद्देश्य से वहाँ 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' की स्थापना की। इस संस्था द्वारा वहाँ के भारतीयों ने आत्म-सम्मान का पाठ सीखा।

संगठन के इन प्रयत्नों ने वहाँ के अँग्रेज़ों को गांधीजी का शत्रु बना दिया। कई बार उन्होंने गांधीजी की हत्या के प्रयत्न किए, किंतु

अपनी सारी शक्ति लगादी, किन्तु सरकार को यह भी सह्य नहीं था। आपको छः साल की सजा दे दी गई। उनके जेल जाने के बाद साम्प्रदायिक दगों का आरम्भ हुआ। देशभर मे हिन्दू-मुस्लिम उपद्रवो का दौर-दौरा शुरू होगया। जेल से छूटकर आपने इन दंगो को सदा के लिये शान्त करने के निमित्त २१ दिन के उपवास की घोषणा की। इस घोषणा ने दोनो जातियो के नेताओं का ध्यान साम्प्रदायिक शाति की ओर आकृष्ट किया।

सन् १९१४ ई० मे आप पहली बार बेलगांव कांग्रेस के प्रधान बने। अध्यक्ष बनने के बाद आपने फिर देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में उन्हे यह अनुभव हुआ कि देश के लिये राजनीतिक-स्वतन्त्रता से भी अधिक आवश्यक कार्य हरिजनो के उद्धार का है। उन्हें भी अन्य वर्गों के समान अधिकार मिलने चाहिये। खादी की कल्पना ने भी इसी दौरे मे महत्व पकड़ा। परिणामस्वरूप आपने 'हरिजन-संघ' की स्थापना की और इन दोनों कार्यों का समावेश भी कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों मे कर दिया। इसके अतिरिक्त मद्य निषेध, हिन्दी प्रचार, शिक्षा सुधार आदि रचनात्मक कार्यों मे भी आपने पथ-प्रदर्शक का काम किया।

सन् १९३० ई० मे गांधीजी ने दूसरे सत्याग्रह-युद्ध का आरम्भ किया। इसका आरम्भ १२ मार्च सन् १९३० ई० के दिन साबरमती आश्रम से दांडी के लिये प्रस्थान करके किया गया था। नमक कानून तोड़ना इस प्रस्थान का तत्कालिक ध्येय था। छः अप्रैल को गाधीजी ने दाडी पहुँचकर स्वयं नमक तैयार किया। अगले ही दिन सरकार ने आपको गिरफ्तार कर लिया। गाधीजी की गिरफ्तारी ने आन्दोलन की आग में घी का काम किया। हजारो सत्याग्रही जेलों मे गये। अन्त में सरकार ने लन्दन मे गोलमेज परिषद् बुलाई। गाधीजी भी

भारत आते ही आपने गोखले की सलाह मानकर भारत का भ्रमण शुरू कर दिया। वीरमगाम में जकात के सम्बन्ध में जनता बड़ी दुःखी थी। आपने उनका दुःख वायसराय के सामने रखा। वायसराय ने इन शिकायतों पर उचित ध्यान दिया। इससे काठियावाड़ तथा भारत की जनता आपकी ओर आकृष्ट हुई।

वर्ष भर देश का दौरा करने के बाद आप अहमदाबाद लौट आये। यहां आकर आपने साबरमती नदी के किनारे 'सत्याग्रह आश्रम' की नींव रखी। किंतु देश के दुःखी किसानों की पुकार ने आपको आश्रम में चैन से नहीं बैठने दिया। सबसे पहले बिहार के चम्पारन जिले के किसानों ने आकर गांधीजी से शिकायत की कि वहां के अंग्रेज़ जमींदार उनपर बड़ा अत्याचार करते हैं। आपने स्वयं चम्पारन जाकर जांच की और किसानों की शिकायतें सरकार के सामने रखीं। पहले तो सरकार ने ध्यान नहीं दिया, किंतु जब सत्याग्रहियों के जत्थे जेलों को भरने लगे तो सरकार को गांधीजी के सुझाव मानने पड़े। इस विजय ने गांधीजी का यश देशभर में फैला दिया।

चम्पारन से आपको अहमदाबाद की मिलों के मालिकों व मज़दूरों का झगड़ा निपटाने के लिये आना पड़ा। आपने मिल-मालिकों को समझाने का बहुत प्रयत्न किया, किंतु वे नहीं माने। तब, आपने मजदूरों को हड़ताल करने की सलाह दी। हड़ताल का आंदोलन कुछ मन्द होने लगा तो आपने उपवास की घोषणा की। यह आपके जीवन का पहला सार्वजनिक उपवास था। तीन दिन के उपवास के बाद ही मिल-मालिकों ने मजदूरों से समझौता कर लिया।

सन् १६१४ ई० में जब पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ तो गांधीजी ने धन और जन से अंग्रेज़ों की सहायता की। उस समय आपको अंग्रेज़ों की सचाई में विश्वास था। अंग्रेज़ों ने युद्ध में विजयी होने के बाद भारत

मन्त्री और व्यवस्था-सभाओं के सदस्य अपने पदों से त्यागपत्र दे दें।

१६३६ में महायुद्ध की घोषणा के बाद गाधीजी को फिर राजनीति में भाग लेना पड़ा। भारत से परामर्श लिये बिना ब्रिटिश-सरकार ने भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी थी। कांग्रेस-मंत्रिमडलों ने इस प्रश्न पर प्रातीय सरकारों से त्यागपत्र दे दिये थे।

कांग्रेस ने एकबार फिर ब्रिटिश-सरकार से पूर्ण स्वाधीनता की माग की। सरकार ने इस माग को ठुकरा दिया। गाधीजी ने फिर देश की बागडोर हाथ में ली। आपने अग्रेजी-सरकार को भारत से चले जाने को कहा। सरकार का व्यवहार दिन-प्रतिदिन अपमानजनक होता गया।

आखिर बम्बई में ६ अगस्त १६४२ ई० के दिन "भारत से चले जाओ" का प्रस्ताव कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। सरकार ने इसका उत्तर ६ अगस्त को सब नेताओं की गिरफ्तारी से दिया। गांधीजी के साथ काग्रेस-कार्यकारिणी के सब सदस्य भी कैद कर लिये गये।

देश मे आग लग गई। यह स्वाधीनता का अंतिम युद्ध था। अन्य सत्याग्रह-युद्धों की तरह यह पूर्णरूप से अहिंसात्मक नहीं था। कांग्रेस के अंदर एक दल ऐसा बन चुका था जो अहिसा मे पूर्णतया विश्वास नहीं करता था। श्री सुभाष बोस का दल भी उग्र दल था। इसलिये १६४२ के आन्दोलन ने विप्लव का रूप पकड़ लिया। जवाहरलाल जी ने इसे सन् १८५७ के विप्लव का ही दूसरा अध्याय कहा था।

उन दिनों विश्वयुद्ध की चिनगारियां देश की सीमा को छू रही थीं। जापान और जर्मनी मे स्थित श्री सुभाष की वाणियाँ बड़े चाव से सुनी जाती थीं। अंग्रेजी-साम्राज्य अपने जीवन की अंतिम सासें ले रहा था।

मन्त्री और व्यवस्था-सभाओं के सदस्य अपने पदों से त्यागपत्र दे दें।

१६३६ में महायुद्ध की घोषणा के बाद गांधीजी को फिर राजनीति में भाग लेना पड़ा। भारत से परामर्श लिये बिना ब्रिटिश-सरकार ने भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी थी। कांग्रेस-मंत्रिमंडलों ने इस प्रश्न पर प्रांतीय सरकारों से त्यागपत्र दे दिये थे।

कांग्रेस ने एकबार फिर ब्रिटिश-सरकार से पूर्ण स्वाधीनता की मांग की। सरकार ने इस मांग को ठुकरा दिया। गांधीजी ने फिर देश की बागडोर हाथ में ली। आपने अंग्रेज़ी-सरकार को भारत से चले जाने को कहा। सरकार का व्यवहार दिन-प्रतिदिन अपमानजनक होता गया।

आखिर बम्बई में ८ अगस्त १६४२ ई० के दिन "भारत से चले जाओ" का प्रस्ताव कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। सरकार ने इसका उत्तर ६ अगस्त को सब नेताओं की गिरफ्तारी से दिया। गांधीजी के साथ कांग्रेस-कार्यकारिणी के सब सदस्य भी क़ैद कर लिये गये।

देश में आग लग गई। यह स्वाधीनता का अंतिम युद्ध था। अन्य सत्याग्रह-युद्धों की तरह यह पूर्णरूप से अहिंसात्मक नहीं था। कांग्रेस के अंदर एक दल ऐसा बन चुका था जो अहिंसा में पूर्णतया विश्वास नहीं करता था। श्री सुभाष बोस का दल भी उग्र दल था। इसलिये १६४२ के आन्दोलन ने विप्लव का रूप पकड़ लिया। जवाहरलाल जी ने इसे सन् १८५७ के विप्लव का ही दूसरा अध्याय कहा था।

उन दिनों विश्वयुद्ध की चिनगारियां देश की सीमा को छू रही थीं। जापान और जर्मनी में स्थित श्री सुभाष की वाणियाँ बड़े चाव से सुनी जाती थीं। अंग्रेज़ी-साम्राज्य अपने जीवन की अंतिम सांसें ले रहा था।

अनुयायी नेताओं के आग्रह के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई।

२ सितम्बर १९४६ ई० को अन्तरिम सरकार बनी। कांग्रेस और लीग के सम्मिलित सदस्यों से देश का मंत्रिमंडल बनना था, किन्तु लीग के सदस्यों ने इसका बहिष्कार किया। कलकत्ता में इस मंत्रि-मंडल के विरुद्ध मुसलमानों ने जो प्रतिवाद किया, उसमें भयंकर रक्त-पात हुआ। हजारों निरपराध आदमी मारे गए।

कलकत्ते की चिनगारियाँ नोआखाली तक पहुँची। धर्मान्ध मुसल-मानों ने नरमेध शुरू कर दिया। नोआखाली के हिन्दुओं की चीत्कार से सारा देश काँप उठा। गांधीजी ने भी नोआखाली जाकर इस दानवी आग को बुझाने का निश्चय किया।

नोआखाली में मुस्लिम-लीग की सरकार थी। वह चाहती थी कि गांधीजी वहाँ से चले जायँ। किंतु गांधीजी कहा करते थे "मैं आपके बुलाने से यहाँ नहीं आया और आपके कहने से नहीं लौटूँगा। आप सोचते होंगे यह आफ़त यहाँ से टले, मैं टलनेवाला नहीं।"

अभी आप नोआखाली में थे कि बिहार में रक्तपात हुआ। तुरन्त बिहार जाकर मुसलमानों को धीरज बँधाया और फिर नोआखाली चले गए। जवाहरलालजी को सलाह की ज़रूरत होती तो वह आपसे परा-मर्श करने के लिए नोआखाली ही जाते थे।

१५ अगस्त १९४७ ई० के दिन जब हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े शहर अगणित दीपों से जगमगा उठे थे, गांधीजी उजड़े हुए नोआखाली की एक अँधेरी कुटीर में बैठे हुए थे। आपके हृदय में प्रसन्नता की हिलोर नहीं उठी थी, क्योंकि स्वतन्त्रता के आने के साथ हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव भी आए थे। मनुष्यों ने राक्षसी रूप धारण किया था। नोआखाली के दृश्यों ने आपकी आत्मा को गहरी वेदना में डाल दिया था।

अनुयायी नेताओं के आग्रह के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई।

२ सितम्बर १९४६ ई० को अन्तरिम सरकार बनी। कांग्रेस और लीग के सम्मिलित सदस्यों से देश का मंत्रिमंडल बनना था, किन्तु लीग के सदस्यों ने इसका बहिष्कार किया। कलकत्ता में इस मंत्रि-मंडल के विरुद्ध मुसलमानों ने जो प्रतिवाद किया, उसमें भयंकर रक्त-पात हुआ। हज़ारों निरपराध आदमी मारे गए।

कलकत्ते की चिनगारियाँ नोआखाली तक पहुँची। धर्मान्ध मुसल-मानों ने नरमेध शुरू कर दिया। नोआखाली के हिन्दुओं की चीत्कार से सारा देश काँप उठा। गांधीजी ने भी नोआखाली जाकर इस दानवी आग को बुझाने का निश्चय किया।

नोआखाली में मुस्लिम-लीग की सरकार थी। वह चाहती थी कि गांधीजी वहाँ से चले जायँ। किंतु गांधीजी कहा करते थे "मैं आपके बुलाने से यहाँ नहीं आया और आपके कहने से नहीं लौटूँगा। आप सोचते होंगे यह आफ़त यहाँ से टले, मैं टलनेवाला नहीं।"

अभी आप नोआखाली में थे कि बिहार में रक्तपात हुआ। तुरन्त बिहार जाकर मुसलमानों को धीरज बँधाया और फिर नोआखाली चले गए। जवाहरलालजी को सलाह की ज़रूरत होती तो वह आपसे परा-मर्श करने के लिए नोआखाली ही जाते थे।

१५ अगस्त १९४७ ई० के दिन जब हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े शहर अगणित दीपों से जगमगा उठे थे, गांधीजी उजड़े हुए नोआखाली की एक अँधेरी कुटीर में बैठे हुए थे। आपके हृदय में प्रसन्नता की हिलोर नहीं उठी थी, क्योंकि स्वतन्त्रता के आने के साथ हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव भी आए थे। मनुष्यों ने राक्षसी रूप धारण किया था। नोआखाली के दृश्यों ने आपकी आत्मा को गहरी वेदना में डाल दिया था।

सार मदनलाल नाम के एक युवक ने एक दिन बम का गोला प्रार्थना-सभा मे फेंका। वह गोला पूर्ण तरह फटा नहीं। सरदार वल्लभभाई ने गाधीजी से आग्रह किया कि वह अब अरक्षित अवस्था मे प्रार्थना-सभा मे न जाया करें, किन्तु गांधीजी कब मृत्यु से डरते थे! उन दिनों वह प्रतिदिन कहा करते थे "पहले मेरी इच्छा १२५ साल जीवित रहने की थी, किन्तु अब मैं अधिक जीवित रहना नहीं चाहता। यह रक्त-पात देखने की अपेक्षा मैं ईश्वर की गोद मे जाना पसन्द करता हूं।" धमकियों के पत्र भी आने लगे, किन्तु आप कभी विचलित नहीं हुए। अन्तः मे ३० जनवरी १९४८ ई० की शाम को लगभग ६ बजे महाराष्ट्र के एक युवक नाथूराम गोडसे ने प्रार्थना-सभा मे जाकर इस अवतारी पुरुष पर रिवाल्वर से हमला कर दिया। तीन गोलिया आपके खुले सीने से पार होगईं। मुख से तीन बार 'राम' नाम लेने के बाद आपने प्राण छोड दिए।

गाधीजी के बलिदान का समाचार सारी दुनिया मे गहरे दुःख के साथ सुना गया। सभी देशों की सरकारों ने शोक प्रकाशित किया और सभी राष्ट्रों के प्रमुख व्यक्तियों ने श्रद्धाजलि भेंट की।

दिल्ली के पास यमुनातट पर आपका शवदाह हुआ। शव-यात्रा का जुलूस मीलों लम्बा था। हिन्दुस्तान के बडे-से-बडे शाहंशाह का भी जनता ने ऐसा सत्कार नहीं किया था। गाधीजी का देह अग्नि की भेंट होगया, किन्तु उनकी आत्मा का सन्देश आज भी भारत का पथ-प्रदर्शन कर रहा है।

पंडित नेहरू ने गाधीजी की मृत्यु के बाद ये उद्गार व्यक्त किये थे। इनसे हम गाधीजी के विशाल व्यक्तित्व का कुछ अनुमान लगा सकते हैं:—

"एक विशाल छाया-मूर्ति की तरह बापू भारत के इतिहास की

सार मदनलाल नाम के एक युवक ने एक दिन बम का गोला प्रार्थना-सभा में फेंका। वह गोला पूर्ण तरह फटा नहीं। सरदार वल्लभभाई ने गांधीजी से आग्रह किया कि वह अब अरक्षित अवस्था में प्रार्थना-सभा में न जाया करें, किन्तु गांधीजी कब मृत्यु से डरते थे! उन दिनों वह प्रतिदिन कहा करते थे "पहले मेरी इच्छा १२५ साल जीवित रहने की थी, किन्तु अब मैं अधिक जीवित रहना नहीं चाहता। यह रक्त-पात देखने की अपेक्षा मैं ईश्वर की गोद में जाना पसन्द करता हूँ।" धमकियों के पत्र भी आने लगे, किन्तु आप कभी विचलित नहीं हुए। अन्तः में ३० जनवरी १९४८ ई० की शाम को लगभग ६ बजे महाराष्ट्र के एक युवक नाथूराम गोडसे ने प्रार्थना-सभा में जाकर इस अवतारी पुरुष पर रिवाल्वर से हमला कर दिया। तीन गोलियां आपके खुले सीने से पार होगईं। मुख से तीन बार 'राम' नाम लेने के बाद आपने प्राण छोड़ दिए।

गांधीजी के बलिदान का समाचार सारी दुनिया में गहरे दुःख के साथ सुना गया। सभी देशों की सरकारों ने शोक प्रकाशित किया और सभी राष्ट्रों के प्रमुख व्यक्तियों ने श्रद्धांजलि भेंट की।

दिल्ली के पास यमुनातट पर आपका शवदाह हुआ। शव-यात्रा का जुलूस मीलों लम्बा था। हिन्दुस्तान के बड़े-से-बड़े शाहंशाह का भी जनता ने ऐसा सत्कार नहीं किया था। गांधीजी का देह अग्नि की भेंट होगया, किन्तु उनकी आत्मा का सन्देश आज भी भारत का पथ-प्रदर्शन कर रहा है।

पंडित नेहरू ने गांधीजी की मृत्यु के बाद ये उद्गार व्यक्त किये थे। इनसे हम गांधीजी के विशाल व्यक्तित्व का कुछ अनुमान लगा सकते हैं:—

"एक विशाल छाया-मूर्ति की तरह बापू भारत के इतिहास की

जगह बन जाता था।'

"उनकी महानता को हमारी आँखें स्पष्ट-रूप से नहीं देख पातीं। आने वाली पीढ़ियाँ शायद उन्हें और अधिक स्पष्ट रूप से देख सकेंगी और विश्व विख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन के शब्दोंमें "उन्हे आश्चर्य होगा कि ऐसा विलक्षण-व्यक्ति सदेह रूप मे कभी पृथ्वी पर रहता था।"

जयह बन जाता था।'

"उनकी महानता को हमारी आँखें स्पष्ट-रूप से नहीं देख पातीं। आने वाली पीढ़ियाँ शायद उन्हें और अधिक स्पष्ट रूप से देख सकेंगी और विश्व-विख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन के शब्दोंमें "उन्हें आश्चर्य होगा कि ऐसा विलक्षण-व्यक्ति सदेह रूप में कभी पृथ्वी पर रहता था।"

रहे और अंतिम वर्ष तक आपका स्वास्थ्य उत्तम रहा। नव्वे वर्ष की आयु में भी वह कच्चे चावल और ज्वार खाकर उन्हें पचा सकते थे। वल्लभभाई की माता लाडबाई ८० वर्ष की हो जाने पर भी रोज़ स्वयं चर्खा कातती थीं। माता-पिता दोनों ही धार्मिक-वृत्ति के थे, साहसी और संयमी भी थे। उनका प्रभाव वल्लभभाई के चरित्र पर भी पड़ा।

वल्लभभाई को बचपन मे नडियाद के कई स्कूल बदलने पड़े। प्रारंभ से ही आप तेज स्वभाव के थे, इसलिये शिक्षकों से किसी न किसी बात पर अनबन हो जाती थी। सरदार पटेल जब मैट्रिक पास नहीं हुए थे तभी १८ वर्ष की किशोरावस्था मे झवेरबाई के साथ उनका विवाह होगया। झवेरबाई की आयु उस समय बारह-तेरह वर्ष की थी। दुर्भाग्यवश १८९८ ई० में ही श्रीमती झवेरबाई का स्वर्गवास हो गया और उन्होंने अपने पीछे एक पुत्र तथा पुत्री छोड़े। सरदार पटेल की आयु उस समय ३३ वर्ष की थी। यही पुत्र श्री डाह्याभाई पटेल और पुत्री कुमारी मणिबेन पटेल हैं।

सन् १८९७ ई० में बाईस वर्ष की आयु में मैट्रिक पास करके आपने जिला वकील की परीक्षा पास की और वकालत शुरू कर दी। थोड़े ही समय में उनकी वकालत अच्छी चल निकली, धन भी आया। इस सफलता में उनकी कानूनी योग्यता से अधिक मनुष्य स्वभाव की परख की योग्यता, गवाहों से बहस करने की क्षमता और मवक्किल के केस को अचूक प्रभावशाली ढंग से रखने की योग्यता ने मदद दी। गोधरा मे दो वर्ष वकालत करके १९०२ में बोरसद ही आ-गये। यहाँ भी विट्ठलभाई पटेल की वकालत बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वह अकेले इसका काम नहीं संभाल पा रहे थे। उनकी मदद के लिये वल्लभभाई पटेल को वहाँ जाना पड़ा। थोड़े ही दिनों में वल्लभभाई बोरसद में चमक उठे, वहा दोनों भाइयों की वकालत सबसे बढ़ी-

रहे और अंतिम वर्ष तक आपका स्वास्थ्य उत्तम रहा। नव्वे वर्ष की आयु में भी वह कच्चे चावल और ज्वार खाकर उन्हें पचा सकते थे। वल्लभभाई की माता लाडबाई ८० वर्ष की हो जाने पर भी रोज़ स्वयं चर्खा कातती थीं। माता-पिता दोनों ही धार्मिक-वृत्ति के थे, साहसी और संयमी भी थे। उनका प्रभाव वल्लभभाई के चरित्र पर भी पड़ा।

वल्लभभाई को बचपन में नडियाद के कई स्कूल बदलने पड़े। प्रारंभ से ही आप तेज़ स्वभाव के थे, इसलिये शिक्षकों से किसी न किसी बात पर अनबन हो जाती थी। सरदार पटेल जब मैट्रिक पास नहीं हुए थे तभी १८ वर्ष की किशोरावस्था में झवेरबाई के साथ उनका विवाह होगया। झवेरबाई की आयु उस समय बारह-तेरह वर्ष की थी। दुर्भाग्यवश १८६८ ई० में ही श्रीमती झवेरबाई का स्वर्गवास हो गया और उन्होंने अपने पीछे एक पुत्र तथा पुत्री छोड़े। सरदार पटेल की आयु उस समय ३३ वर्ष की थी। यही पुत्र श्री डाह्याभाई पटेल और पुत्री कुमारी मणिबेन पटेल हैं।

सन् १८६७ ई० में बाईस वर्ष की आयु में मैट्रिक पास करके आपने ज़िला वकील की परीक्षा पास की और वकालत शुरू कर दी। थोड़े ही समय में उनकी वकालत अच्छी चल निकली, धन भी आया। इस सफलता में उनकी कानूनी योग्यता से अधिक मनुष्य स्वभाव की परख की योग्यता, गवाहों से बहस करने की क्षमता और मवक्किल के केस को अचूक प्रभावशाली ढंग से रखने की योग्यता ने मदद दी। गोधरा में दो वर्ष वकालत करके १६०२ में बोरसद ही आ-गये। यहाँ भी विट्ठलभाई पटेल की वकालत बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वह अकेले इसका काम नहीं संभाल पा रहे थे। उनकी मदद के लिये वल्लभभाई पटेल को वहाँ जाना पड़ा। थोड़े ही दिनों में वल्लभभाई बोरसद में चमक उठे, वहां दोनों भाइयों की वकालत सबसे बढ़ी-

खेल न छोड़ा। उस समय बैरिस्टर वल्लभभाई की दृष्टि मे गाधीजी की सत्याग्रह-सिद्धान्त-विवेचना व्यर्थ की बकवास थी और उसे सुनना अपना समय बर्बाद करना था। मगर दो साल बाद ही बैरिस्टर वल्लभभाई पटेल गाधीजी के अनन्य शिष्य बन गये।

गाधीजी के कार्यक्रम को भी वह व्यावहारिक मानने लगे। बाद में तो उन्होंने सब कुछ छोड़कर महात्माजा का अनुयायी बनकर देश-सेवा करने का निश्चय भी कर लिया। उस निश्चय को करते हुए वल्लभभाई ने कहा था--

"देश को स्वतन्त्रता तभी मिलेगी जब सैंकड़ो युवक स्वार्थ त्याग-कर संन्यासियों की तरह जीवन व्यतीत करने का व्रत लेकर देश-सेवा के क्षेत्र मे बढ़ेंगे।"

उन्हीं दिनों गोधरा में काग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इसके प्रधान महात्मा गाधी स्वयं थे। वल्लभभाई ने इस सम्मेलन मे उत्साह पूर्वक भाग लिया। इस अधिवेशन म एक समिति बनाने का निश्चय किया गया, जिसका काम काग्रेस के विधायक कार्यक्रम को क्रियात्मक रूप देना था। वल्लभभाई इस कमेटी के संयोजक-मंत्री बने। सक्रिय राजनीति में उनका यह पहला कदम था।

इसके एक-दो वर्ष बाद तो आप वकालत को लात मारकर सम्पूर्ण रूप से देश-सेवा के कार्यों मे जुट गये। महात्माजी उनकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते थे। सरदार ने खेडा-सत्याग्रह को सफल बनाने के लिये अपनी संपूर्ण शक्ति लगा दी और वह गाधीजी के दाहिने हाथ बन गये। उन्होंने अपनी चमकती हुई वकालत और सारे भोग-विलास छोड़ दिए। गाधीजी ने अपनी आत्मकथा में इस सबंध मे लिखा है—"मेरी राय में खेडा-सत्याग्रह की एक बड़ी सफलता यह है कि उसके द्वारा वल्लभभाई हमें मिल गये।"

खेल न छोड़ा। उस समय बैरिस्टर वल्लभभाई की दृष्टि में गांधीजी की सत्याग्रह-सिद्धान्त-विवेचना व्यर्थ की बकवास थी और उसे सुनना अपना समय बर्बाद करना था। मगर दो साल बाद ही बैरिस्टर वल्लभभाई पटेल गांधीजी के अनन्य शिष्य बन गये।

गांधीजी के कार्यक्रम को भी वह व्यावहारिक मानने लगे। बाद में तो उन्होंने सब कुछ छोड़कर महात्माजी का अनुयायी बनकर देश-सेवा करने का निश्चय भी कर लिया। उस निश्चय को करते हुए वल्लभभाई ने कहा था—

"देश को स्वतन्त्रता तभी मिलेगी जब सैंकड़ों युवक स्वार्थ त्यागकर संन्यासियों की तरह जीवन व्यतीत करने का व्रत लेकर देश-सेवा के क्षेत्र में बढ़ेंगे।"

उन्हीं दिनों गोधरा में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इसके प्रधान महात्मा गांधी स्वयं थे। वल्लभभाई ने इस सम्मेलन में उत्साह पूर्वक भाग लिया। इस अधिवेशन में एक समिति बनाने का निश्चय किया गया, जिसका काम कांग्रेस के विधायक कार्यक्रम को क्रियात्मक रूप देना था। वल्लभभाई इस कमेटी के संयोजक-मंत्री बने। सक्रिय राजनीति में उनका यह पहला कदम था।

इसके एक-दो वर्ष बाद तो आप वकालत को लात मारकर सम्पूर्ण रूप से देश-सेवा के कार्यों में जुट गये। महात्माजी उनकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते थे। सरदार ने खेडा-सत्याग्रह को सफल बनाने के लिये अपनी संपूर्ण शक्ति लगा दी और वह गांधीजी के दाहिने हाथ बन गये। उन्होंने अपनी चमकती हुई वकालत और सारे भोग-विलास छोड़ दिए। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में इस संबंध में लिखा है—"मेरी राय में खेड़ा-सत्याग्रह की एक बड़ी सफलता यह है कि उसके द्वारा वल्लभभाई हमें मिल गये।"

प`ेल ने २०० स्वयंसेवक तैयार किये और गाव-गाव पहरा बिठाकर डाकुओं से लडने की जनता को प्रेरणा दी। लोगों से कहा कि वे अपना दरवाजा खुला रखकर सोयें और डाकू आयें तो उनका मुकाबला करें। आपने जनता से सरकार को पुलिस टैक्स देना बन्द करा दिया। सरकार को अंत में विवश होकर पुलिस पहरा हटा लेना पडा और टैक्स लेना बन्द कर दिया। डाकू भी जनता के नैतिकबल को देखकर भाग गये। श्री वल्लभभाई पटेल ने वहा की जनता मे एक नये जीवन और साहस का संचार किया और जनता आपका यशगान करने लगी।

किन्तु जिस सत्याग्रह ने आपकी कीर्ति भारत के कोने-कोने मे फैला दी वह बारदोली का सत्याग्रह था। बारदोली ताल्लुका के किसानों पर सरकार ने तीस प्रतिशत लगान की वृद्धि करने का निश्चय किया। वल्लभभाई ने बारदोली जाकर जाँच की और सरकार को अपने निश्चय पर पुनर्विचार करने के लिये कहा। सरकार ने उनकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। तब आपने भी किसानों से कह दिया कि वे एक पाई भी सरकार को न दें। दोनो ओर से युद्ध शुरू होगया। इस युद्ध मे प्रमुख होने से ही आपको जनता ने 'सरदार' की उपाधि से विभूषित किया था। आज भी आप 'सरदार' नाम से ही पुकारे जाते है।

बारदौली-सत्याग्रह की व्यवस्था आपने युद्ध की व्यूहरचना के सदृश की थी। सरकार भी इसे कुचलने के लिये तुल गई थी। बम्बई के गवर्नर ने ऐलान कर दिया था कि "बारदौली सत्याग्रह को कुचलने में ब्रिटिश-साम्राज्य की पूरी शक्ति लगा दी जायगी।" किन्तु यह धमकी बन्दरघुड़की के समान थोथी निकली। सरकार ने घुटने टेक दिये। वल्लभभाई की जीत हुई। बारदौली के आन्दोलन ने सारे देश

पटेल ने २०० स्वयसेवक तैयार किये और गांव-गांव पहरा बिठाकर डाकुओं से लड़ने की जनता को प्रेरणा दी। लोगों से कहा कि वे अपना दरवाज़ा खुला रखकर सोयें और डाकू आयें तो उनका मुकाबला करें। आपने जनता से सरकार को पुलिस टैक्स देना बन्द करा दिया। सरकार को अंत में विवश होकर पुलिस पहरा हटा लेना पड़ा और टैक्स लेना बन्द कर दिया। डाकू भी जनता के नैतिकबल को देखकर भाग गये। श्री वल्लभभाई पटेल ने वहां की जनता में एक नये जीवन और साहस का संचार किया और जनता आपका यशगान करने लगी।

किन्तु जिस सत्याग्रह ने आपकी कीर्ति भारत के कोने-कोने में फैला दी वह बारदोली का सत्याग्रह था। बारदोली ताल्लुका के किसानों पर सरकार ने तीस प्रतिशत लगान की वृद्धि करने का निश्चय किया। वल्लभभाई ने बारदोली जाकर जाँच की और सरकार को अपने निश्चय पर पुनर्विचार करने के लिये कहा। सरकार ने उनकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। तब आपने भी किसानों से कह दिया कि वे एक पाई भी सरकार को न दें। दोनों ओर से युद्ध शुरू होगया। इस युद्ध में प्रमुख होने से ही आपको जनता ने 'सरदार' की उपाधि से विभूषित किया था। आज भी आप 'सरदार' नाम से ही पुकारे जाते हैं।

बारदोली-सत्याग्रह की व्यवस्था आपने युद्ध की व्यूहरचना के सदृश की थी। सरकार भी इसे कुचलने के लिये तुल गई थी। बम्बई के गवर्नर ने ऐलान कर दिया था कि "बारदोली सत्याग्रह को कुचलने में ब्रिटिश-साम्राज्य की पूरी शक्ति लगा दी जायगी।" किन्तु यह धमकी बन्दरघुड़की के समान थोथी निकली। सरकार ने घुटने टेक दिये। वल्लभभाई की जीत हुई। बारदोली के आन्दोलन ने सारे देश

बारदोली की विजय के बाद सरदार की गणना गुजरात के नहीं, समस्त भारत के अग्रणी नेताओं में होने लगी। बारदोली सत्याग्रह की विजय के बाद सरदार पटेल ने गुजरात मे गाधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम को फैलाने में संपूर्ण शक्ति लगा दी। १६२६ में पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे लाहौर मे कांग्रेस अधिवेशन हुआ और उसमें "पूर्ण स्वतन्त्रता" का प्रस्ताव पास हुआ। पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति को ध्येय बनाने के साथ कांग्रेस ने सत्याग्रह करने का भी आदेश दिया। पहली बार २६ जनवरी १६३० को सारे देश ने पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रतिज्ञा ली और जनता सत्याग्रह का बिगुल बजने की प्रतीक्षा करने लगी। साबरमती आश्रम मे कॉग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई और गाधीजी के नेतृत्व मे सत्याग्रह करने का निश्चय हुआ। पहले देश में गाधीजी का इच्छानुसार नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह आरम्भ करने का निश्चय किया गया। गाधीजी की नमक सत्याग्रह के लिये ऐतिहासिक "डाडी-यात्रा" आरम्भ हुई।

डाडी-यात्रा के बाद कानून तोडने का युद्ध छेड दिया। इस युद्ध में नब्बे हजार सत्याग्रही जेलो में गये। गुजरात के सत्याग्रह को सफल बनाने का श्रेय सरदार को था।

श्री पण्डित मोतीलाल नेहरू सत्याग्रह-आन्दोलन के डिक्टेटर चुने गये। नेहरूजी के बाद सरदार पटेल को डिक्टेटर बनाया गया। आप बम्बई पहुँचे। इस समय बम्बई सारे देश के सत्याग्रह आदोलन संचालन का केन्द्र था। एक अगस्त को लोकमान्य तिलक की पुण्य-तिथि पर सरदार पटेल के नेतृत्व में एक बड़ा भारी जुलूस निकाला गया, इसमें पण्डित मदनमोहन मालवीय भी शामिल थे। सरकार ने जुलूस को अवैध घोषित कर दिया। सशस्त्र पुलिस ने जुलूस को भङ्ग करने की आज्ञा दी। जुलूस के लोग सरदार पटेल

बारदोली की विजय के बाद सरदार की गणना गुजरात के नहीं, समस्त भारत के अग्रणी नेताओं में होने लगी। बारदोली सत्याग्रह की विजय के बाद सरदार पटेल ने गुजरात में गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम को फैलाने में संपूर्ण शक्ति लगा दी। १६२६ में पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहोर में कांग्रेस अधिवेशन हुआ और उसमें "पूर्ण स्वतन्त्रता" का प्रस्ताव पास हुआ। पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति को ध्येय बनाने के साथ कांग्रेस ने सत्याग्रह करने का भी आदेश दिया। पहली बार २६ जनवरी १६३० को सारे देश ने पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रतिज्ञा ली और जनता सत्याग्रह का बिगुल बजने की प्रतीक्षा करने लगी। साबरमती आश्रम में कॉंग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई और गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह करने का निश्चय हुआ। पहले देश में गांधीजी की इच्छानुसार नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह आरम्भ करने का निश्चय किया गया। गांधीजी की नमक सत्याग्रह के लिये ऐतिहासिक "डांडी-यात्रा" आरम्भ हुई।

डांडी-यात्रा के बाद कानून तोड़ने का युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध में नव्वे हजार सत्याग्रही जेलों में गये। गुजरात के सत्याग्रह को सफल बनाने का श्रेय सरदार को था।

श्री पण्डित मोतीलाल नेहरू सत्याग्रह-आन्दोलन के डिक्टेटर चुने गये। नेहरूजी के बाद सरदार पटेल को डिक्टेटर बनाया गया। आप बम्बई पहुँचे। इस समय बम्बई सारे देश के सत्याग्रह आंदोलन संचालन का केन्द्र था। एक अगस्त को लोकमान्य तिलक की पुण्य-तिथि पर सरदार पटेल के नेतृत्व में एक बड़ा भारी जुलूस निकाला गया, इसमें पण्डित मदनमोहन मालवीय भी शामिल थे। सरकार ने जुलूस को अवैध घोषित कर दिया। सशस्त्र पुलिस ने जुलूस को भङ्ग करने की आज्ञा दी। जुलूस के लोग सरदार पटेल

सरकार ने भारत मे शासन सुधारो की घोषणा करदी। ये शासन-सुधार १९३५ ई० का इण्डिया ऐक्ट के नाम से प्रसिद्ध हैं। कांग्रेस ने इस शासन-सुधार के अन्तर्गत होने वाले चुनाव को लडने का निश्चय किया। इन चुनावों मे कांग्रेस ने अपने प्रतिनिधि खडे करने का निश्चय किया और चुनाव कार्य संचालन करने के लिये एक कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड बना दिया। इसके चेयरमैन सरदार वल्लभभाई पटेल बनाये गये और सदस्य डा० राजेन्द्रप्रसाद तथा मौलाना आज़ाद। इस सिलसिले में सरदार पटेल ने सारे भारत का भ्रमण किया और जनता को कांग्रेस का सन्देश दिया। आपका यह नारा था कि 'कांग्रेस को वोट देना गांधीजी को वोट देना है।' सरदार पटेल के मज़बूत हाथो मे कांग्रेस का चुनाव कार्यक्रम बडी सफलता के साथ आगे बढ़ा। सरदार ने बडे कौशल से चुनाव का कार्य चलाया।

कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड के आप ही प्रधान थे। कांग्रेस के उम्मीदवारो का निर्णय और मंत्रियो के कार्य का निर्देशन भी आपके हाथ मे था। यदि कोई मंत्री कांग्रेस के सिद्धांतो के प्रतिकूल चलता था तो वह वल्लभभाई के कडे अनुशासन से बच नहीं पाता था। आठ प्रांतों में कांग्रेस का मंत्रिमंडल शासन कर रहा था। उनकी लगाम सरदार के ही हाथ में थी। उन्हें कांग्रेस के अनुशासन में रखने के कठिन काम को सरदार ने बडी योग्यता से निभाया।

१९४२ ई०में गांधीजी ने जब स्वाधीनता के अंतिम युद्ध की घोषणा कर दी, तब आपने भविष्यवाणी की कि स्वाधीनता का यह युद्ध एक सप्ताह से अधिक नहीं चलेगा। एक सप्ताह मे अंग्रेज़ घुटने टेक देंगे। सरदार पटेल तथा कांग्रेस-कार्य-समिति के अन्य सदस्य गिरफ्तार करके अहमदनगर किले में बंद कर दिये गये और महात्माजी को आगाखा

सरकार ने भारत में शासन सुधारों की घोषणा करदी। ये शासन-सुधार १६३५ ई० का इण्डिया ऐक्ट के नाम से प्रसिद्ध हैं। कांग्रेस ने इस शासन-सुधार के अन्तर्गत होने वाले चुनाव को लड़ने का निश्चय किया। इन चुनावों में कांग्रेस ने अपने प्रतिनिधि खड़े करने का निश्चय किया और चुनाव कार्य संचालन करने के लिये एक कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड बना दिया। इसके चेयरमैन सरदार वल्लभभाई पटेल बनाये गये और सदस्य डा० राजेन्द्रप्रसाद तथा मौलाना आज़ाद। इस सिलसिले में सरदार पटेल ने सारे भारत का भ्रमण किया और जनता को कांग्रेस का सन्देश दिया। आपका यह नारा था कि 'कांग्रेस को वोट देना गांधीजी को वोट देना है।' सरदार पटेल के मज़बूत हाथों में कांग्रेस का चुनाव कार्यक्रम बड़ी सफलता के साथ आगे बढ़ा। सरदार ने बड़े कौशल से चुनाव का कार्य चलाया।

कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड के आप ही प्रधान थे। कांग्रेस के उम्मीदवारों का निर्णय और मंत्रियों के कार्य का निर्देशन भी आपके हाथ में था। यदि कोई मंत्री कांग्रेस के सिद्धांतों के प्रतिकूल चलता था तो वह वल्लभभाई के कड़े अनुशासन से बच नहीं पाता था। आठ प्रांतों में कांग्रेस का मंत्रिमंडल शासन कर रहा था। उनकी लगाम सरदार के ही हाथ में थी। उन्हें कांग्रेस के अनुशासन में रखने के कठिन काम को सरदार ने बड़ी योग्यता से निभाया।

१६४२ ई०में गांधीजी ने जब स्वाधीनता के अंतिम युद्ध की घोषणा कर दी, तब आपने भविष्यवाणी की कि स्वाधीनता का यह युद्ध एक सप्ताह से अधिक नहीं चलेगा। एक सप्ताह में अंग्रेज़ घुटने टेक देंगे। सरदार पटेल तथा कांग्रेस-कार्य-समिति के अन्य सदस्य गिरफ्तार करके अहमदनगर किले में बंद कर दिये गये और महात्माजी को आगाखां

"आत्म-रक्षा के लिये हथियार उठाना हिंसा नहीं है। अहिंसा कमज़ोर का नहीं, बहादुरों का हथियार है।"

केन्द्रीय सरकार मे कांग्रेस का मन्त्रिमंडल बनने के बाद आप प्रचार, रियासती और गृह-प्रबंध के विभागों के मन्त्री बने। आप जैसा लौह-पुरुष स्वतंत्रता मिलने के प्रारंभिक दिनों में न होता तो लीग को स्वतंत्रता के मार्ग मे रुकावटें डालने मे सफलता मिल जाती। लीग विधान-सभा की तिथियों को टालना चाहती थी। आपने जनता को विश्वास दिलाते हुए कहा था "आकाश चाहे गिर पड़े, पृथ्वी चाहे फट जाय, विधान सभा का अधिवेशन नौ दिसम्बर के पीछे नहीं टल सकता।" आपकी ही बात पूरी हुई। दो सितम्बर १६४६ ई० को अंतरिम सरकार बनी। इसमें बारह मंत्री बनाये गये, सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, शरत्चंद्रबोस, राजगोपालाचार्य, आसफ-अली, डाक्टर मथाई, जगजीवनराम, सर शफातअहमद खां, सरदार बलदेवसिंह, भाभा, अली ज़हीर और डा० राजेन्द्रप्रसाद। सरदार पटेल को गृह और इन्फ़ारमेशन तथा ब्राडकास्टिंग विभाग दिये गये।

स्वाधीनता मिलने के बाद यह डर था कि देश में विप्लव हो-जायगा, रियासतें अपनी सल्तनतें कायम कर लेंगी, मुस्लिम-जनता विद्रोह कर देगी। यह डर अकारण नहीं था, स्वाधीनता देते हुए अंग्रेज़ इस विप्लव के बीज बो गये थे। किंतु सरदार ने इन विषवृक्षों के बीज अंकुरित होने से पहले ही उन पर तुषारपात कर दिया।

देशी-राज्यों को आपने चेतावनी दे दी कि "जो राज्य केन्द्रीय-सरकार में सम्मिलित नहीं होगा उसे अराजकता का सामना करना पड़ेगा।" इस भय से भयभीत होकर सब राज्यों के नरेशों ने केन्द्रीय-सरकार के हाथ अपने शासन की बागडोर दे दी। हैदराबाद के

"आत्म-रक्षा के लिये हथियार उठाना हिंसा नहीं है। अहिंसा कमज़ोर का नहीं, बहादुरों का हथियार है।"

केन्द्रीय सरकार में कांग्रेस का मंत्रिमंडल बनने के बाद आप प्रचार, रियासती और गृह-प्रबंध के विभागों के मंत्री बने। आप जैसा लौह-पुरुष स्वतंत्रता मिलने के प्रारंभिक दिनों में न होता तो लीग को स्वतंत्रता के मार्ग में रुकावटें डालने में सफलता मिल जाती। लीग विधान-सभा की तिथियों को टालना चाहती थी। आपने जनता को विश्वास दिलाते हुए कहा था "आकाश चाहे गिर पड़े, पृथ्वी चाहे फट जाय, विधान सभा का अधिवेशन नौ दिसम्बर के पीछे नहीं टल सकता।" आपकी ही बात पूरी हुई। दो सितम्बर १६४६ ई० को अतरिम सरकार बनी। इसमें बारह मंत्री बनाये गये, सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, शरत्‌चंद्रबोस, राजगोपालाचार्य, आसफ-अली, डाक्टर मथाई, जगजीवनराम, सर शफातअहमद खां, सरदार बलदेवसिंह, भाभा, अली ज़हीर और डा० राजेन्द्रप्रसाद। सरदार पटेल को गृह और इन्फ़ारमेशन तथा ब्राडकास्टिंग विभाग दिये गये।

स्वाधीनता मिलने के बाद यह डर था कि देश में विप्लव हो जायगा, रियासतें अपनी सल्तनतें कायम कर लेंगी, मुस्लिम-जनता विद्रोह कर देगी। यह डर अकारण नहीं था, स्वाधीनता देते हुए अंग्रेज़ इस विप्लव के बीज बो गये थे। किंतु सरदार ने इन विषवृक्षों के बीज अंकुरित होने से पहले ही उन पर तुषारपात कर दिया।

देशी-राज्यों को आपने चेतावनी दे दी कि "जो राज्य केन्द्रीय-सरकार में सम्मिलित नहीं होगा उसे अराजकता का सामना करना पड़ेगा।" इस भय से भयभीत होकर सब राज्यों के नरेशों ने केन्द्रीय-सरकार के हाथ अपने शासन की बागडोर दे दी। हैदराबाद के

हित की कसौटी पर परखना चाहिए" यही आपका गुरुमत्र था। आपकी राय में मजदूरों को राजनीतिक दल-बन्दियों में नहीं पडना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरदार पटेल जैसा कूटनीतिज्ञ हमारे देश में न होता तो भारत में अशाति और अराजकता फैल जाती

पाकिस्तान को भी आपने भारत-विरोधी चालों से दूर रखने के लिए तीन जनवरी १६४८ ई० के दिन कलकत्ता में चेतावनी दी थी कि—"मैं पाकिस्तान को विश्वास दिलाता हूँ कि हम पाकिस्तान का अकल्याण नहीं चाहते, किन्तु उन्हें भी चाहिए कि वे हमें शातिपूर्वक रहने दें।" काश्मीर के सम्बन्ध में आपने कहा था—"हम काश्मीर की जनता का मत जाने बिना काश्मीर की भूमि का एक इंच हिस्सा भी पाकिस्तान के सुपुर्द नहीं करेंगे।"

गाधीजी के साथ सरदार पटेल ने बत्तीस वर्ष तक काम किया था। उनके हृदय में गाधीजी के लिए अगाध श्रद्धा थी। गाधीजी की सेवा करने में वे आनन्द अनुभव करते थे। स्वयं गाधीजी ने सरदार की सेवाओं के प्रति इन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की थी—

"जेल में वल्लभभाई ने मेरे प्रति जो स्नेह दिखाया है उससे मुझे अपनी माता के स्नेह की याद आ जाती है। मैं नहीं जानता था कि उनके पास एक माँ का दिल भी है।"

साधारणतया लोग सरदार के वज्र से कठोर रूप से ही परिचित हैं। कर्त्तव्यपालन करने या कराने में आप सचमुच बहुत कठोर बन जाते थे। उस समय आप हृदय की सारी कोमलताओं को ताक पर रखकर काम करते थे। इस कठोरता का इससे बडा उदाहरण क्या हो सकता है कि जब एक दिन आप अदालत में वकील की हैसियत से बहस कर रहे थे, आपके हाथ में पत्नी की मृत्यु का तार दिया गया।

हित की कसौटी पर परखना चाहिए" यही आपका गुरुमन्त्र था। आपकी राय में मजदूरों को राजनीतिक दल-बन्दियों में नहीं पड़ना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरदार पटेल जैसा कूटनीतिज्ञ हमारे देश में न होता तो भारत में अशांति और अराजकता फैल जाती।

पाकिस्तान को भी आपने भारत-विरोधी चालों से दूर रखने के लिए तीन जनवरी १६४८ ई० के दिन कलकत्ता में चेतावनी दी थी कि—"मैं पाकिस्तान को विश्वास दिलाता हूँ कि हम पाकिस्तान का अकल्याण नहीं चाहते, किन्तु उन्हें भी चाहिए कि वे हमें शांतिपूर्वक रहने दें।" काश्मीर के सम्बन्ध में आपने कहा था—"हम काश्मीर की जनता का मत जाने बिना काश्मीर की भूमि का एक इंच हिस्सा भी पाकिस्तान के सुपुर्द नहीं करेंगे।"

गांधीजी के साथ सरदार पटेल ने बत्तीस वर्ष तक काम किया था। उनके हृदय में गांधीजी के लिए अगाध श्रद्धा थी। गांधीजी की सेवा करने में वे आनन्द अनुभव करते थे। स्वयं गांधीजी ने सरदार की सेवाओं के प्रति इन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की थी—

"जेल में वल्लभभाई ने मेरे प्रति जो स्नेह दिखाया है उससे मुझे अपनी माता के स्नेह की याद आ जाती है। मैं नहीं जानता था कि उनके पास एक माँ का दिल भी है।"

साधारणतया लोग सरदार के वज्र से कठोर रूप से ही परिचित हैं। कर्त्तव्यपालन करने या कराने में आप सचमुच बहुत कठोर बन जाते थे। उस समय आप हृदय की सारी कोमलताओं को ताक पर रखकर काम करते थे। इस कठोरता का इससे बड़ा उदाहरण क्या हो सकता है कि जब एक दिन आप अदालत में वकील की हैसियत से बहस कर रहे थे, आपके हाथ में पत्नी की मृत्यु का तार दिया गया।